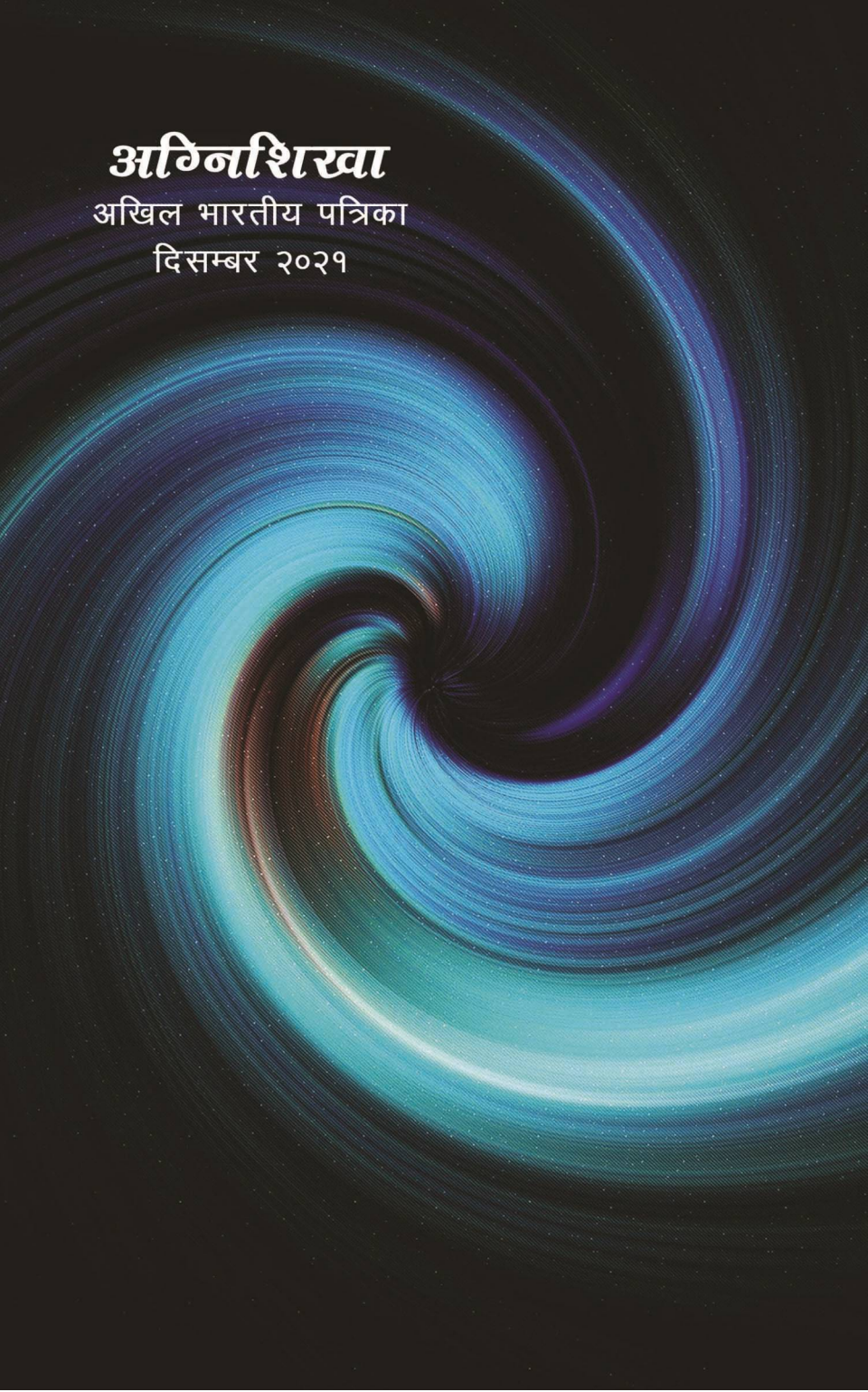

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

दिसम्बर २०२१

विषय-सूची

(मृत्यु तथा मृत्यु के परे सम्बन्धी लेख)

एक प्रार्थना	श्रीमाँ	३
सम्पादकीय		४
जीवन से हटो न पीछे (कविता)	श्रीअरविन्द	५
श्रीअरविन्द की समाधि के विषय में नीरदवरण		६
श्रीमाँ की बिदाई क्या बिदाई थी?	'श्वेत कमल' पुस्तक से	२८
उनके प्रति हमारी चरम 'कृतज्ञता'		३०
अद्वितीय अवसर	दीनेन्द्रकुमार रॉय	३२
मानस-सरोवर के अरविन्द	ब्रह्मबान्धव उपाध्याय	३४
यदि मृत्यु का घेरा न होता	'श्रीमातृवाणी' से	३७
मृत्यु का अर्थ	'श्रीमातृवाणी' से	४१
आश्रम का उद्देश्य	'श्रीमातृवाणी' से	४३

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४४
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : जप कैसे किया जाये	नवजात जी	४७
स्वर्ग का प्रमाण	लेखक : एबन एलैग्ज़ैंडर अनुवादिका : वन्दना	५०

तुम सम्पूर्ण त्याग की बात कर रहे हो, लेकिन शरीर को छोड़ना सम्पूर्ण त्याग नहीं है। सच्चा और पूर्ण त्याग है अहं का त्याग, जो कहीं अधिक दुःसाध्य प्रयास है। अगर तुमने अपने अहं को न त्यागा हो तो शरीर छोड़ देने से तुम्हें मुक्ति नहीं मिलेगी।

—श्रीमाँ

एक प्रार्थना

२० नवम्बर १९१४

हे प्रभो, मैं तेरे सम्मुख सदा एक कोरे पृष्ठ की तरह रहना चाहूँगी ताकि मेरे अन्दर तेरी इच्छा किसी भी कठिनाई या किसी भी मिश्रण के बिना लिखी जा सके।

कभी-कभी विचार से पिछली अनुभूतियों की स्मृति तक बुहार फेंकनी ज़रूरी होती है ताकि वे सतत नव-निर्माण के कार्य में बाधक न हों। केवल यही एक चीज़ है जो सापेक्षताओं के जगत् में तेरी पूर्ण अभिव्यक्ति को आने की अनुमति देती है।

बहुधा व्यक्ति उस चीज़ से चिपटा रहता है जो थी, उसे बहुमूल्य अनुभूति के परिणाम को खो देने का, एक विस्तृत और उच्च चेतना के छूट जाने का, निचली अवस्था में जा गिरने का भय रहता है।

लेकिन उसे किस बात का खटका जो तेरा है, क्या वह तेरे रेखांकित किये हुए पथ पर, वह चाहे वह कोई भी पथ क्यों न हो, चाहे उसकी सीमित समझ के लिए एकदम अबोधगम्य क्यों न हो, क्या वह उस पर आनन्दमय आत्मा और प्रबुद्ध भ्रू के साथ नहीं चल सकता?

हे प्रभो, विचार के पुराने ढाँचों को तोड़ दे, प्राचीन अनुभूतियों को लुप्त कर दे और अगर तू ज़रूरी समझे तो सचेतन समन्वय को भी विघटित कर दे ताकि तेरा कार्य अधिकाधिक अच्छी तरह पूरा हो, धरती पर तेरी सेवा पूर्ण हो सके।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १५६-५७

सम्पादकीय : दिसम्बर का महीना आते ही ५ दिसम्बर—श्रीअरविन्द के महाप्रयाण का दिवस याद आ जाता है। जैसे नवम्बर में १७ नवम्बर—श्रीमाँ के महाप्रयाण की याद हो आती है। हृदय अकुला उठता है, लेकिन ज़रा गहराई में उतरें तो पहली बात तो यह कि अवतार या विभूतियाँ भले शरीर से इस धरती को छोड़ दें, चर्म-चक्षुओं से धरतीवासी उन्हें न देख पायें, लेकिन एक बार वे इस धरा पर उतर आयें तो इसकी रग-रग में रच-बस जाते हैं, फिर वे यहाँ सशरीर हों या अशरीर। श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ भी जा कहाँ सकते हैं भला? बाहरी चक्षुओं से हम उन्हें न देख पायें, आन्तरिक चक्षुओं के सम्मुख तो वे विराजमान हैं ही, और जब-जब व्यक्ति अभीप्सा करे, अपने हृदय में भी उन्हें सादर पधरा कर हमेशा के लिए प्रतिष्ठित कर सकता है न?

तब मृत्यु हौवा कहाँ है? वह मात्र अगला पड़ाव ही है—जैसा कि विभिन्न धर्मों ने अनुभव किया है। 'गीता' का भी यही कथन है :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

शरीर बदलना, यानी, पुराने वस्त्रों के स्थान पर नये वस्त्र पहनना...।

इस अंक में हम श्रीअरविन्द के महाप्रयाण के साथ-साथ मृत्यु-सम्बन्धी अन्य सामग्री इत्यादि दे रहे हैं। हो सकता है कि कुछ लेख पाठकों के लिए परिचित हों, लेकिन चूँकि वे इस अंक में सटीक बैठ रहे हैं इसलिए उनका दोहराना भी सम्भवतः क्षम्य है!

पाठकगण को हम यह भी बतलाते चलें कि अधिकतर 'अग्निशिखा' की सामग्री अंग्रेज़ी मासिक-पत्रिका 'All India Magazine' की सामग्री से मेल खाती है, लेकिन यह अंक अपवाद है। जो पाठक दोनों पत्रिकाओं से परिचित हैं उनकी जानकारी के लिए यह भूमिका दी जा रही है। अस्तु, आशा करें कि मृत्यु पर श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचनादि—भले यह चञ्चुपात क्यों न हो—गुनने के बाद, 'मृत्यु' शब्द में बसी थरथराने वाली उस कँपकँपी से हम कुछ तो मुक्ति पा जायेंगे।

'पुरोधा' के अधिकांश हिस्से में भी उसी से सम्बद्ध सामग्री दी जा रही है—मृत्यु की चौखट से वापस धरती पर लौट आने की कहानी।

जीवन से हटो न पीछे

(श्रीअरविन्द की कविता The Rishi "द ऋषि" से एक उद्धरण)

जीवन से हटो न पीछे, हे आर्य, पर उल्लास
और आनन्द से करो स्वागत उसका,
उसके शुभ-अशुभ का, पाप-पुण्य का, जब तक
माँगे नहीं वह विदा।
पर जब तक जीओ, करो पूर्ण पालन
अपनी भूमिका का,
मानों धरती को मंच, अभिनेता अपने को सबल,
यह नाटक है 'उसका'।
करो कर्म, पर केवल भगवान् की प्राप्ति है उसका फल,
एकमात्र अस्तित्व है जिसका।
करो कर्म, करो प्रेम, जानो ज्ञान—अमृत का आनन्द
जीतेगी तुम्हारी आत्मा।
प्रेम करो मनुज से, भगवान् से। हे राजन्, डरो न प्रेम से,
होओ न भोग से भयभीत;
कारण, मृत्यु एक मार्ग है, मूर्ख होते हैं क्षुब्ध शोक से,
जो है एक वस्तु कल्पित।
स्वार्थ से उठो ऊपर औ' करो प्राप्त एक उच्चतर आनन्द
जो रहता है केवल प्रेम में स्थित।...

खोज करो धरती पर 'तत्' की। तेरे लिए जमघट विशाल
किया उसने स्थापित
कितने जगतों का, एक शक्तिशाली राज्य के निर्माणार्थ
उस मनुज की सफलता के हित,
जो खोजता है लक्ष्य अपना। अपनी मानवीय शक्ति को करो पूर्ण,
करो जाति को सम्पूरित।
क्योंकि हो तुम 'वही', हे राजन्! केवल तुम्हारी आत्मा पर
है निशा का आवरण

अपने ही संकल्प से। हटा दो इसे और करो पुनर्प्राप्त उसको
जो है प्रशान्त सम्पूरन
जो तुम सचमुच में हो, तब उठाओ ऊपर मनुज को—जो प्रेमी है
भगवान् तक—जो है लक्ष्य, प्रयोजन।

श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द की महासमाधि के विषय में नीरदवरण

श्रीअरविन्द–"मैं यहीं हूँ, मैं यहीं हूँ!"

(इस अंक के लिए बहुत समीचीन लेख दिया जा रहा है। छपा था पहले अग्निशिखा २०१२ के दिसम्बर अंक में। उसके पहले भी यत्र-तत्र पाठकों की दृष्टि में सम्भवतः यह आया हो। लेकिन विशेष बात यह है कि जब-जब पढ़ो, तब-तब कुछ नवीन अनुभूतियाँ होती ही हैं।—सं.)

जब पूरे विश्व में श्रीअरविन्द के बारे में अधिक-से-अधिक जानने की जिज्ञासा तथा उनके कार्य में रुचि बढ़ रही थी, वे अचानक पार्थिव दृश्य से अदृश्य हो गये। सतही रूप में यह भाग्य की भयानक विडम्बना दीखती है। किन्तु उनके जीवन का अध्ययन करने से पता चलता है कि ऐसी नितान्त अप्रत्याशित घटना उनके जीवन में एक से अधिक बार हो चुकी थी, मानों वे स्वयं अपनी इच्छा से उसे करते हों। ऐसा कहा जा सकता है कि ऐसी घटना उनके उत्तरोत्तर ऊर्ध्वमुखी जीवन के प्रत्येक निर्णायक मोड़ पर लगभग एक नियमित विशेषता रही है। हम देखते हैं कि ऊपर की ओर उदित होती हुई उनके जीवन की रेखा अचानक नीचे झुक गयी जब उन्होंने आई.सी.एस. के जीवन की भव्य सफलता को ठोकर मार दी और बड़ौदा-राज्य की मामूली नौकरी से सन्तुष्ट हो गये। वहाँ उनका भाग्य-सूर्य पुनः ऊर्ध्वारोहण पर था, किन्तु जैसे ही वे लोगों की दृष्टि में प्रशंसा के पात्र बने, उन्होंने उस यश के उत्कर्ष का त्याग कर दिया। सूरज तब बादलों में तिरोहित हो गया; यह परदे के पीछे से तब तक काम करता रहा जब तक राजनीतिक क्षितिज पर चकाचौंध कर देने वाली चमक के साथ यह

पुनः प्रकट नहीं हुआ। और जब सबकी आँखें आश्चर्य और आनन्द से भर रही थीं तब पुनः जेल की काल-कोठरी के धुँधलेपन में ज्योति ने अपने को छिपा लिया जहाँ उन्हें जीवन की एक सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त हुई। जब वे जेल से बाहर आये, उनके महान् बलिदान तथा आदर्श मार्गदर्शन ने राष्ट्र को जाग्रत् कर दिया और यह अखिल-भारत के नेतृत्व की भेंट लेकर इनके द्वार पर प्रतीक्षा करता रहा।

पुनः वे एक रात अदृश्य हो गये और बहुत वर्षों के लिए पॉण्डिचेरी के अज्ञात एकान्तवास की गुमनामी में खो गये। मानों यह पर्याप्त नहीं था, वे अपने निकटस्थ शिष्यों को आश्चर्य और निराशा में छोड़ कर, १९२६ में अपनी साधना में प्रथम सर्वोच्च विजय पाने के बाद विश्व की चोटी पर आत्मा की गरिमा का ध्वज फहराने की बजाय अनिश्चित काल के लिए और गहरी गुमनामी में डूब गये। और अन्त में आ गयी तर्कसंगत उपसंहार के रूप में सर्वाधिक आघात पहुँचाने वाली एक भयानक विस्फोट की तीव्रता के साथ सबसे बड़ी गुमनामी। उन्होंने हमेशा ही लोक-प्रसिद्धि से बचने का प्रयास किया और उनकी महान् उपलब्धियाँ उनके एकान्तवास की गुप्त नीरवता में तैयार की गयीं। उन्होंने प्रत्येक प्रकटन के साथ एक महत्तर ज्योति को नीचे उतारा तथा ज्ञान और शक्ति का बृहत्तर साम्राज्य स्थापित किया।

परन्तु क्यों उन्होंने मानव अस्तित्व के अन्तिम कष्टप्रद द्वार से स्वयं को निवर्तित करने का निश्चय किया? जब कि अन्य योगियों के समान वे संकल्प के द्वारा अपनी मर्त्य देह का त्याग कर सकते थे। आख़िर उन्होंने ऐसा किस प्रयोजन से किया? श्रीअरविन्द के लिए किसी उद्देश्य या अन्तिम लाभ के बिना कुछ करना एकदम कल्पनातीत है। यदि वे कभी-कभी विरोधी शक्ति के सामने झुक भी गये तो इसलिए कि उनके अपने शब्दों में, "पलायनम्" उनके प्रयोजन के अनुकूल था। जिन्होंने अपनी महान् साधना द्वारा जीवन और आत्मा के रहस्यों पर अधिकार प्राप्त कर लिया है, जिन्हें आत्मा की परम सिद्धि पाने वाले योगी भी योगेश्वर कहते हैं, उनके लिए मृत्यु न तो भयावह हो सकती है और न रहस्य, न ही अवश्यम्भावी आवश्यकता। यदि उन्होंने कष्ट का पूरा मूल्य चुका कर सामान्य व्यक्ति के 'बहिर्द्वार' से गुज़रना स्वीकार किया तो केवल इसलिए कि उन्होंने यह

अनुभव किया होगा कि इसके बिना उनका जीवन, उनका अपना योग अधूरा रह जायेगा तथा मानव-नियति के जूए को अपने ईश्वरीय कन्धों पर ढोने के लिए उन्हें मानव की नियति पर राज्य करने वाली उस अन्ध शक्ति—मृत्यु—का सामना उसकी अपनी माँद में ही करना होगा और किसी प्रकार उसके सारे रहस्यों को छीन लेना होगा। वे उस भयानक चरम संकट को तब तक गले न लगाते जब तक उन्हें अन्तिम रूप से विजयी होकर प्रकट होने का मार्ग और यह घोषित करने का अवसर न प्राप्त हो जाता, "ओ मानवजाति, निकल आया हूँ मैं अन्धकार के राजा के गढ़ से और ले आया हूँ वह जिसका मैंने तुम्हें वचन दिया था—अमरता का स्वर्णिम बीज।"

यह सर्वोच्च बलिदान, जिसका महत्त्व हमारी सीमित बुद्धि कभी नहीं समझ पायेगी, उन्होंने, जैसा कि श्रीमाँ ने सुनिश्चित रूप से स्पष्ट किया है, सिर्फ़ हम लोगों के लिए किया है। इसके इतिहास में प्रवेश करने के लिए हमें दो वर्ष पीछे जाना होगा जब बलिदान की पूर्णाहुति का प्रथम लक्षण प्रकट हुआ था। यह क्षितिज पर एक क्षीण मेघ के समान था जिसे किसी ने कोई महत्त्व नहीं दिया। परन्तु श्रीअरविन्द इसका प्रयोजन जानना चाहते थे। उनके शिष्य, कलकत्ते के एक प्रमुख सर्जन डॉ. पी. सान्याल एफ़.आर.सी.एस. (इंग्लैण्ड), जब दर्शन के लिए आये तब उनसे परामर्श किया गया। उन्होंने तुरन्त जान लिया कि यह ख़तरे का चिह्न है और इसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। उन्होंने श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द को बताया कि यह 'प्रोस्टेटिक एन्लार्जमेण्ट' का रोग है तथा बहुमूत्रता इसका पहला लक्षण है। उन्होंने विस्तार से इसकी वृद्धि तथा परिणाम के बारे में भी समझाया। उन्होंने कहा कि अभी इसके विषय में घबराने की बात नहीं है, पर हम लोगों को चेतावनी दी कि हम सावधानीपूर्वक इसके क्रमिक विकास पर नज़र रखें। आरम्भिक चरण में चीज़ों के स्पष्ट ज्ञान के साथ पहले से तैयार रहने का बड़ा लाभ हुआ है क्योंकि इस पर क्रिया करने में श्रीअरविन्द को सुविधा होगी। उन्होंने हमेशा कहा है कि वस्तुओं के ज्ञान और उनकी प्रक्रिया की विस्तृत जानकारी यौगिक शक्ति की क्रिया को अधिक प्रभावशाली बना देती है। संघर्ष अब खुली रोशनी में होगा : अज्ञान का आवरण नहीं होगा जिसके तले अन्धकार की शक्ति छिप कर आक्रमण कर सके। हम लोगों को संघर्ष के विषय में कभी सन्देह नहीं हुआ, यद्यपि

श्रीमाँ ने एक बार हमसे कहा था कि उन दोनों (श्रीमाँ एवं श्रीअरविन्द) ने दूसरों की अनेक गम्भीर बीमारियों को ठीक कर दिया था, किन्तु अपने लिए ऐसा करना और बात थी तथा सचमुच अत्यन्त मुश्किल भी।

जैसी कि हमने आशा की थी, दो-एक महीनों के बाद रोग के लक्षण बिलकुल दूर हो गये तथा जब डॉ. सान्याल अगले दर्शन पर आये तब श्रीअरविन्द ने सुनिश्चित रूप से उनसे कहा, "अब यह मुझे कष्ट नहीं दे रहा है, मैंने इसे दूर कर दिया है।" हम लोगों का विश्वास सुदृढ़ हो गया।

उनके महाकाव्य *सावित्री* का कार्य शक्ति और उत्साह के साथ आगे बढ़ने लगा। खण्ड-पर-खण्ड की पुनरावृत्ति होने लगी और प्रकाशन के लिए तैयार कर उन्हें भेजा जाने लगा। क़रीब ४०० से ५०० पंक्तियाँ उन्होंने लगातार लिखवायीं जिनके सौन्दर्य और प्रवाह में मन्त्रमुग्ध कर देने वाली वैश्व दृष्टि और चमत्कारिक भाषा का आनन्द था। ऐसा प्रतीत हुआ कि इस गति से *सावित्री* समाप्त होने में अधिक समय नहीं लगेगा। प्रत्येक के होठों पर उत्सुक प्रश्न था, "कहाँ तक हुई *सावित्री?*"

किन्तु *सावित्री* उनकी एकमात्र व्यस्तता नहीं थी। साथ-साथ अन्य नानाविध गतिविधियाँ भी चल रही थीं जिनके सभी पक्षों को केवल वे ही अपनी अन्तर्भासिक शक्ति की अद्‌भुत पकड़ द्वारा निपटा सकते थे। संसार यह विश्वास करने की भूल करता है या करता था कि श्रीअरविन्द ने अपने समस्त जीवन को अन्तर्मुख बना लिया और यह कि जीवन से दूर एकान्तवास ले लिया तथा वे अब अपनी व अपने शिष्यों की मुक्ति में लग गये हैं। यह आश्चर्य की बात है कि कैसे उनके जैसे सर्वोच्च ऊर्जस्वी व्यक्ति के लिए लोगों में ऐसी ग़लतफ़हमी हुई। हम याद करें, उनका जीवन कैसा रहा था, कैसी महान् आध्यात्मिक सिद्धियाँ अपने कठिन राजनीतिक संघर्षों के बीच उन्होंने उपलब्ध की थीं। हम याद करें, उनका योग किस चीज़ का प्रतीक है और अपने यौगिक जीवन में कैसे युगान्तरकारी ग्रन्थों की उन्होंने रचना की। *सावित्री* के अतिरिक्त, जो अपने-आपमें एक कीर्तिस्तम्भ है, प्रत्येक दिन समाचार-पत्रों का पठन, आश्रम से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा सम्पादित कितनी ही पत्रिकाओं, साप्ताहिकों, पाक्षिकों, त्रैमासिकों तथा चार या पाँच भाषाओं में लिखे लेखों, कविताओं, निबन्धों, पत्रों का अनुशीलन, प्रश्नों के उत्तर लिखवाने का काम तथा इन सबसे भी महत्त्वपूर्ण अपनी

तथा दूसरों की पुस्तकों की तैयारी, उनकी पाण्डुलिपियों तथा प्रूफ़ों की ओर ध्यान देना इत्यादि—ये सब उनके दैनिक नियमित कार्य थे। इनमें और जोड़ दीजिये प्रेस की आग्रही माँगें, भौतिक कष्टों में मार्गदर्शन तथा सहायतार्थ आशीर्वाद के लिए प्रार्थनाएँ—यह सूची एक अन्धे आदमी की आँखें खोलने के लिए पर्याप्त होनी चाहिये। इन सब कार्यों को प्रत्येक दिन क़रीब दो घण्टों के अन्दर निबटाना ही पड़ता था! बाद के दिनों में उनमें एक विलक्षण क्षमता विकसित हुई या पहली बार देखने में आयी। जब मैं पढ़ने के लिए कोई लेख उठाता तो वे कहने लगते, "क्या तुम इसे पहले नहीं पढ़ चुके हो?" "नहीं तो।" "क्या तुम्हें पक्का विश्वास है?" "मैं पहले कैसे पढ़ सकता था? मुझे आज ही तो यह मिला है?" मैं उत्तर देता। वे कहते, "आश्चर्य की बात है। मुझे लगता है कि मैंने इसका एक-एक शब्द सुना है।" ऐसा अनेकों बार हुआ। यह परिश्रम कोई भी मर्त्य दृष्टि सत्यापित कर सकती है; किन्तु मास्टर योगी के रूप में उनकी वैश्व क्रियाशीलता के बृहत् तन्तु-जाल में कौन-सी दृष्टि प्रवेश पा सकती है? शायद कोई *सावित्री* या उनकी अन्य पुस्तकों की खुलती पंक्तियों में या जब वे स्वयं इसका कुछ आभास देना चाहें, इसकी धुँधली झलक पा ले। हम लोगों ने वृन्दावन के गोपों की भाँति उनके साथ क्रीड़ा की है, हमजोलियों की तरह मज़ाक किया है, उनके साथ झगड़ा भी किया है, उनके साथ रहते हुए अन्तिम कुछ वर्षों में कला से लेकर स्वाद जैसे अनेक आकर्षक विषयों पर चर्चा की है।

उनके होठों से झरते स्नेहिल वचन, उनके संवेदनशील परिहास की सारगर्भित कौंधें, उनकी शिष्टता की शान्त, निरहंकार विशिष्टता और सर्वोपरि, सभी विरोधी शक्तियों के विरुद्ध उनका सुरक्षात्मक, सतर्क तथा सूक्ष्म कवच—यह सब हम सबकी विरासत रहा है, किन्तु क्या हम लोगों ने क्षण-भर के लिए भी उनकी विशाल वैश्व क्रिया की थोड़ी-सी भी झलक पर विचार किया है? उनकी अनासक्त महानता, उदासीन विशालता, असीम करुणा और मधुरता, मानों शिव स्वयं विश्व को इसके अज्ञान के मूल से मुक्त करने के लिए धरती पर उतर आये हों—हमें कहाँ मिलेगा इसका समरूप? यहाँ तक कि जब उनका रोग काफ़ी बढ़ गया तब भी दुखियों की पुकार को उन्होंने नकारा नहीं। उदाहरण के लिए, जब वे *सावित्री* के

अन्तिम दो सर्गों के अन्तिम प्रारूप में व्यस्त थे, तब आश्रम से बाहर रहने वाली एक साधिका द्वारा मदद के लिए एक अत्यन्त आवश्यक प्रार्थना आयी। वह महिला एक रहस्यमय रोग से पीड़ित थी। कुछ डॉक्टरों ने इसे 'कोरोनरी थ्रॉम्बोसिस', कुछ ने 'सरवाइकल रिब' और अन्य कुछ डॉक्टरों ने कैंसर बताया, और सबने अलग-अलग दवा बतायीं। मरण-शय्या पर पड़ी उस महिला ने अन्त में गुरु के चरणों में शरण ली और यह तार भेजा कि वह सिर्फ़ गुरु की शक्ति पर ही भरोसा करेगी चाहे उसे मरना ही क्यों न पड़े। हर रोज़ पत्र या तार से उसके समाचार आने लगे। अचानक दो-तीन दिनों तक एकदम कोई समाचार नहीं आया! श्रीअरविन्द चिन्तित हो गये और बार-बार पूछने लगे कि क्या कोई सन्देश आया। अन्त में उन्होंने कुछ परेशान होकर कहा, "मैं कैसे उसकी रक्षा करूँ यदि उसकी कोई ख़बर ही न मिले?" इस कटु झटके के बाद निरन्तर उसके समाचार आने लगे और हम लोगों को यह देख कर प्रसन्नता हुई कि वह साधिका पूर्ण स्वस्थ होकर आश्रम में आकर बस गयी। जिन्होंने उनकी यह आन्तरिक मधुरता और व्याकुलता का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आस्वादन किया है वे इसे अपने हृदय में 'भागवत परम कृपा' के रूप में सदा सँजो कर रखेंगे।

एकमात्र *सावित्री*, जो उनके हृदय की तन्मयता तथा समीपतम ध्यानमग्नता बन गयी थी, एक दिन संसार की कल्पना को प्रज्वलित कर देगी—गहरे बिम्बों के विशुद्ध अम्बार तथा सुषमा द्वारा, जीवन्त शब्दों, ललित तथा निर्भीक अभिव्यक्तियों के द्वारा, जिसके हर एक ब्योरे को तराशने में उन्होंने किसी मूर्तिकार के समान कष्ट झेला। प्रथम खण्ड की ही आवृत्ति दस बार करनी पड़ी; तथा यदि वे ऐसा ही देव-समान परिश्रम अन्त तक कर पाते अथवा यदि उन्हें उनकी दिव्य ऊर्जा के साथ-साथ क़दम मिला कर चलने के लिए एक कमज़ोर और कभी-कभी अनिच्छुक सहायक पर निर्भर रहने को बाध्य न होना पड़ता, तब *सावित्री* उनके अपने जीवन की ज्योति के निवर्तन के पूर्व ही दिन का प्रकाश देख लेती। किन्तु काश! यदि ऐसा हो पाता! विगत वर्ष के मध्य के आस-पास रोग के लक्षण वापस लौट आये और इसके साथ ही उनकी मनःस्थिति में भी हम लोगों ने परिवर्तन देखा। वे अब उतने उन्मुक्त-हृदय न थे। उनकी वाणी के रत्न कम, अधिक कम होते गये। कभी-कभी काम की ज़रूरी बातों को छोड़

कर अनेक दिन निःशब्द गुज़र जाते। हम लोगों ने कितनी ही कोशिश की कि वे अपने आवरण से बाहर निकलें, पर वे सिर्फ़ 'हाँ' अथवा 'नहीं' या अधिक-से-अधिक मुस्कुरा भर देते जिससे हमारी कोशिशों और चालों की मर्यादा रह जाती। स्वभावतः हम लोगों ने इस रहस्यमयी नीरवता के कारण के बारे में अनुमान लगाना शुरू कर दिया। कभी-कभी हमने सोचा कि विश्व की गम्भीर स्थिति पर उनका ध्यान होगा,—क्योंकि एक बार उन्होंने यह टिप्पणी की थी कि स्थिति सचमुच बहुत खराब है,—कभी-कभी अन्य सम्भावनाएँ हमारे उर्वर दिमाग़ में उपज जातीं। अथवा क्या फिर से रोग तो प्रकट नहीं हो गया? यह एक दूसरा प्रश्न था। किन्तु हमारे सारे प्रयास निष्फल हो गये, हम ऐकान्तिकता के उनके कवच को भेद न सके। वे इतने निकट थे, फिर भी कितनी दूर चले गये थे!

जो भी हो, इससे उनका दैनिक कार्य प्रभावित नहीं हुआ। *सावित्री* की गति धीमी हो गयी थी। हम दो बड़े सर्गों की आवृत्ति में लगे हुए थे। २०० से ३०० तक नयी पंक्तियाँ जोड़ी जा चुकी थीं। कैसी थी वह पुनरावृत्ति! प्रत्येक शब्द को एकदम सही होना चाहिये, प्रत्येक पंक्ति को पूर्ण, विराम के प्रत्येक चिह्न को भी निर्भूल। एक सम्बन्धवाचक शब्द को पाँच बार बदला गया। एक विराम-चिह्न को बदलने के लिए हमें कभी-कभी सम्पूर्ण भाग को पढ़ना पड़ता था। इन सब चीज़ों ने मुझमें एक नयी दृष्टि खोल दी, किन्तु उनके लेखक के लिए अपने कमज़ोर मर्त्य कन्धों पर पूर्णता का भार वहन करना व पूर्णरूपेण सन्तोषजनक तरीक़े से उसका निर्वाह करना अत्यधिक विराट् कर्म था। यही कारण है कि शायद यह कार्य कहीं-कहीं अपनी ऊँचाई से नीचे गिर गया है, अपने शिखर से वञ्चित रह गया है।

इसी समय प्रेस ने एक नयी पुस्तक की माँग की। 'फ़्यूचर पोएट्री' को प्राथमिकता दी गयी और एक अध्याय वास्तव में लिख दिया गया। किन्तु, क्योंकि आधुनिक काव्य पर कुछ पुस्तकों व सन्दर्भों के उल्लेख की आवश्यकता आ पड़ी, इसे बगल में सरका दिया गया। उन्होंने कहा, "हम *सावित्री* की ओर वापस चलें।" उन्हीं दो सर्गों को पुनः लिया गया। रोग के लक्षण कम नहीं हुए थे, यद्यपि सौभाग्य से वे बढ़े भी नहीं थे। कभी-कभी अल्पकालिक सुधार हो जाता था, किन्तु रोग की गति से अपने काम में वे क्षुब्ध होते बिलकुल नहीं दीख रहे थे। उनका पूरा ध्यान अब

सावित्री पर केन्द्रित था जिसके लिए हम अधिक-से-अधिक बस दो घण्टे ही दे पाते थे। इसलिए प्रगति धीमी थी, विशेष रूप से इसलिए कि उन्हें लिखवाना पड़ता था तथा अपनी गति में दूसरे की दृष्टि पर निर्भर करना पड़ता था। अब *बुलेटिन* में लेख के लिए माँग आ गयी। उसके ख़त्म होते ही पत्राचार तथा विविध लेखन का इतना अम्बार लग गया कि उन्हें टिप्पणी करनी पड़ी, "मुझे अपने वास्तविक कार्य के लिए समय ही नहीं मिल रहा है।" तब मार्ग बिलकुल स्पष्ट हो गया और मुझे सन्देह हो रहा था कि अगला चुनाव क्या होगा, कि उन्होंने नज़र फेरते हुए घोषित किया, "*सावित्री* ले लो। मैं इसे शीघ्र समाप्त करना चाहता हूं।" अन्तिम वाक्यांश मेरे कानों पर बम-विस्फोट की तरह गिरा। "इसे शीघ्र समाप्त करना? ऐसी क्या जल्दी..." मैंने अपने-आपसे प्रश्न किया। मेरी किंकर्तव्यविमूढ़ दृष्टि एक निरावेग मुखमण्डल पर पड़ी। अतः, पुनः इन दो सर्गों पर परिश्रम आरम्भ हुआ। जिस चीज़ से मैं और भी अधिक अचम्भे में पड़ गया वह यह कि वे काम की गति तेज़ करते लग रहे थे जो उनकी सहज प्रकृति के एकदम विरुद्ध था। वे हमेशा अपनी मनःस्थिति तथा अपने व्यवहार में धीरे और आराम से काम करने के अभ्यस्त थे मानों सारी शाश्वतता उनके हाथ में हो। वे असाधारण धैर्य और सन्तुलन में, अपनी विजयों और स्वयं को पीछे खींच लेने में, अपने उत्खनन और उड़ान में मानों भगवान् के ही मूर्तिमान रूप थे। प्रत्येक शब्द के उनके उच्चारण में एक शान्ति होती थी। हर सामान्य चीज़ जो वे खाते थे, हव्यार्पण जैसी लगती थी। उनका प्रत्येक पदचाप उनके पावन चरणों का धरती के साथ एक मृदुल स्पर्श होता था। जब उनकी आलमारी की छानबीन की गयी, वह *सावित्री* की अनेकानेक प्रतियों से अटी पायी गयी, कुछ सर्गों के तो चार से पाँच तक भाषान्तर थे! यहाँ, वहाँ—कॉपियों में, अलग-अलग काग़ज़ों पर, छोटे ब्लॉक्स में —पंक्तियों पर पंक्तियाँ लिखी हुईं, कहीं कँटी-छँटी, बीच-बीच में नयी पंक्तियाँ जोड़ी हुईं मानों सार्डीन्स (Sardines) के समान ठूँस-ठूँस कर भरी हों, महाकाव्य के रणक्षेत्र में ऊपर-नीचे उनमें सम्बन्ध जोड़ते हुए मानों तीर के निशाने छोड़े जा रहे हों। 'जीनियस' अथवा श्रमरत भगवान्? जब उनकी प्रक्रिया की ऐसी विधि हो तो उनके मुख से यह सुन कर अचरज होना स्वाभाविक था कि वे *सावित्री* को शीघ्र समाप्त करना चाहते हैं। इतना ही

नहीं; ऐसा लगा कि पूर्णता के लिए वह अथक संकल्प, वह आवेग अब न रहा। इसके विपरीत, विचारों, शब्दों की पास-पास आवृत्तियाँ इस महाकाय संरचना की सुसम्बद्ध प्रगाढ़ता में स्पष्ट दोष-सी प्रतीत होती थीं। जिन लोगों ने इन दोनों सर्गों को सावधानी से पढ़ा है उन्हें यह दोष खटकता है। "क्या हो गया है? कहाँ भूल हुई है? क्यों उन्होंने धैर्य खो दिया? क्या रोग के कारण? वे गम्भीर भी क्यों रहने लगे?" ये थे विचारों में डूबे मेरे सवाल। अन्ततोगत्वा, उस दूरवर्ती यात्रा में अनेक चक्करदार मार्गों तथा उत्थान-पतन के पश्चात् लक्ष्य दिखायी पड़ा। इन दोनों सर्गों में विरोध की कैसी कड़ी चट्टान का सामना करना पड़ा! इन सर्गों में निर्वाण जैसे विषयों पर जिन्होंने कितना घोर परिश्रम कर इन्हें भव्यता और सौन्दर्य से, भावुकता तथा उत्ताप से, विचार और अन्तर्दृष्टि से सुसज्जित किया मानों देवी सरस्वती स्वयं उनके कण्ठ में विराजमान थीं, उन्हें विराम-चिह्न के कंकड़ों के कारण रुक जाना पड़ता था! और अन्त में जैसे ही इन सर्गों का समाहार किया गया और अन्तिम पूर्ण विराम अंकित हुआ कि उनके होठों पर सन्तोष की एक मुस्कान लहरा गयी और वे बोले, "आह! यह पूरा हो गया!" वह मुस्कान आज भी मेरे स्मृति-पटल पर स्पष्ट रूप से अंकित है। मानों एक लम्बी कठिन यात्रा के बाद एक थका-हारा पथिक अपने गन्तव्य पर पहुँच गया हो! फिर यह आख़िरी गन्तव्य नहीं था, अभी भी कितने मील के पत्थरों को पार करना था! "अब क्या बच गया है?" उनका दूसरा सवाल था। "द बुक ऑफ़ डेथ ऐण्ड द एपिलॉग।" "आह, वह? हम उसे बाद में देखेंगे," उनका शान्त और सन्तुष्ट स्वर में उत्तर था। किन्तु मैं बिलकुल सन्तुष्ट न था, क्योंकि अन्तिम अनेक पुनरुक्तियाँ, जो जल्दी में जोड़ दी गयी थीं, मेरे कानों में खटक रही थीं। पर मुझे अपने निर्णय को अपने तक ही सीमित रखना और पुनरावृत्ति तक प्रतीक्षा करना युक्तियुक्त लगा। निश्चय ही ये दोष उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से बच नहीं पायेंगे। किन्तु बहुत बाद में अन्धकारावृत चेतना के दुःखदायी क्षणों में, जो शब्द पहले दोष तथा पुनरुक्ति लगते थे, अब बड़ी प्रबलता के साथ एक नये महत्त्व के साथ प्रकट हुए :

आ सकता है ऐसा एक दिन जब उसे होना होगा निस्सहाय खड़ा

विश्व के और उसके अपने सर्वनाश के संकटापन्न छोर पर।
उस भयंकर नीरवता में एकाकी और ध्वस्त हो
मत पुकारो देवलोक को, क्योंकि 'वही' अकेली बन सकती है सहायक।
वही केवल कर सकती है आत्म-त्राण औ' त्राण जगत् का[१]

क्या ये हमारे लिए उनके अन्तिम सन्देश, अन्तिम आदेश नहीं हैं?... ख़ालीपन धीरे-धीरे पिघल गया और उसके स्थान पर चमकता प्रकट हुआ उनका दाहिना हाथ—यानी प्रकट हुईं निर्भीक वरदायिनी श्रीमाँ।

प्रत्याशित पुनरावृत्ति का अवसर कभी न आ पाया क्योंकि इन दो सर्गों की समाप्ति के साथ ही शरद ऋतु आ गयी तथा रोग के लक्षणों में एकाएक वृद्धि हो गई, बहुमूत्रता बढ़ गई और इसके साथ ही बेचैनी भी। ये लक्षण यदा-कदा आते रहते थे और इन्हें ठीक कर दिया जाता था। उन्होंने इन असुविधाओं के बावजूद एक पल के लिए भी अपना कार्य बन्द नहीं किया था। अनेक बार मुझे लगा कि रोग के पुनरावर्तन के कारण काम स्थगित हो जायेगा, किन्तु शारीरिक कष्टों से उन्हें कभी बाधा नहीं हुई। यदि आधे घण्टे का भी समय मिल जाता तो वे इसका उपयोग कर लेते। ऐसे बहुत से अवसर आये जब मैंने उनसे कहा, "आज अधिक समय नहीं है" तथा लगभग यह उम्मीद थी कि आज काम स्थगित कर दिया जायेगा, फिर भी, मुझे आश्चर्य होता, वे बाहर निकल आते और कहते, "थोड़ा काम कर लेंगे।" कर्म के प्रति इस प्रबल भक्तिभाव से ही यह अन्तिम पुरस्कार आया : *सावित्री* उनकी आख़िरी वसीयत थी। जब रोग अधिक बढ़ने लगा, हम सब अधिक चिन्तित रहने लगे, यद्यपि हम सब अच्छी तरह जानते थे कि हम लोग मात्र मूक दर्शक से अधिक कुछ नहीं हैं और जो कुछ करने की आवश्यकता होगी उसे वे स्वयं कर ही रहे होंगे। "तब फिर रोग क्यों बढ़ता जा रहा है?"—कभी-कभी मैं स्वयं से यह पूछा करता था। हम लोग मानव-शरीर के साथ व्यवहार कर रहे थे किन्तु मानव रोगी के साथ नहीं। क्रिया के हमारे साधन तथा मानदण्ड वैसे ही व्यर्थ थे जैसे धरती के विधान अन्य ग्रहों की सत्ता के लिए अप्रयोग्य होते हैं। हम उनकी दृष्टि के सामने केवल उन विविध अन्तःप्रवाहों के शान्त प्रच्छन्न विरोधी दृष्टिकोण

१. *सावित्री*

को ही रख सकते थे जो आक्रमण करने तथा भौतिक आधार को भंग करने का प्रयास करता था, और आक्रमण को पीछे धकेल देने के लिए उनकी अपनी यौगिक शक्ति पर निर्भर रह सकते थे।

दर्शन आने में क़रीब दस दिन रह गये थे। मेरे एक सर्जन-मित्र सत्यव्रत सेन एफ़.आर.सी.एस. (इंग्लैण्ड) दर्शन के लिए आये हुए थे। उनसे परामर्श किया गया। वे डॉ. सान्याल द्वारा आरम्भिक निदान से सहमत थे। डॉ. सेन ने कहा कि ग्रन्थि बढ़ गयी है। श्रीअरविन्द ने भी कहा कि वे भी कुछ दिनों से ऐसा अनुभव कर रहे थे यद्यपि एक बार यह पूरी तरह ठीक हो गया था। उन्होंने पूछा, "इसका उपचार क्या है?" इसकी केवल एक ही आमूल चिकित्सा थी, लेकिन डॉ. सेन जानते थे कि श्रीमाँ और श्रीअरविन्द दोनों ही इसे स्वीकार नहीं करेंगे। श्रीअरविन्द को क्रूर शल्य-चिकित्सा का शिकार नहीं बनाया जा सकता जो हमेशा प्रभावकारी भी नहीं होती। नाल-शलाका (कैथिटर) का प्रयोग भी मना कर दिया गया। उस चरण में यह आवश्यक भी न था। यदि कोई हस्तक्षेप आवश्यक होता भी तो वह दर्शन के बाद ही हो सकता था। अतः एक बार फिर हम शान्त-सतर्क मनोवृत्ति के साथ रोग की गति को देखते रहे, मदद के लिए तैयार, परन्तु अटल विश्वास के साथ कि रोग को रोक दिया जायेगा। एक रात अचानक पेशाब रुक गया। मैं डॉ. सेन को बुलाने नीचे दौड़ा। इस बीच उन्हें पेशाब आने लगा। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं डॉक्टर को बुलाने गया था, उन्होंने कहा, "क्यों? क्या उसका दिमाग़ चल गया?" जब हम लौटे और मैंने उनकी टिप्पणी सुनी, मैं नहीं जानता किस कारण से मैं गद्‌गद हो उठा, अपने पागलपन के कारण या पेशाब की रुकावट ठीक हो जाने के कारण! उन्होंने कहा, "क्यों तुमने इस बेचारे को अनावश्यक ही कष्ट दिया?" फिर बड़े स्नेहसिक्त स्वर में वे बोले, "देखो, मैंने सपने में देखा कि पेशाब ठीक से आ रहा है परन्तु जागने पर रुकावट महसूस की। बस इससे ज़्यादा कुछ नहीं। समझे?" मुस्कुराते हुए फिर बोले, "घबराने का कोई कारण नहीं है।" दूसरे दिन जब श्रीमाँ ने यह कथा सुनी तब उन्होंने भी ऐसी ही टिप्पणी की। उन्होंने कहा, "श्रीअरविन्द के साथ इतने वर्षों तक रहने के बावजूद तुम डर जाते हो?" मैं क्षमा-याचना के स्वर में बोला, "क्या करें माँ, हम लोग किसी साधारण व्यक्ति की नहीं, श्रीअरविन्द की सेवा में हैं।"—"यही कारण है कि तुम्हें

कभी डरना नहीं चाहिये। क्या तुम नहीं जानते हो कि उनकी प्रबल शक्ति हमेशा तुम्हारे साथ रहती है और तुम्हारी सहायता करती है? नहीं, भय का कोई स्थान नहीं है, विशेषकर तुम लोगों में जो उनकी सेवा में हो।" श्रीमाँ ने कहा। मैंने लज्जित अनुभव किया, लेकिन साथ ही प्रेरित भी।

दर्शन अब द्वार पर था। दर्शन की पूर्वसन्ध्या को एक ज्योतिषी से इस आशय का पत्र आया कि श्रीअरविन्द एक गम्भीर रोग के शिकार हो जायेंगे जिससे उनके प्राण को भी ख़तरा हो सकता है। हम लोगों ने इसे हँसी में उड़ा दिया, किन्तु श्रीअरविन्द ने कहा, "ज़रा पता करो कि उसने ठीक-ठीक क्या लिखा है। मुझे लगता है कि उसके कथन में कुछ सत्य है।" "यह बकवास है!" मेरी पहली प्रतिक्रिया थी। श्रीअरविन्द ने ज्योतिष-विद्या का अध्ययन किया था और उनकी मान्यता थी कि ज्योतिषी व्यक्ति के भूतकाल के बारे में ठीक-ठीक बता सकते हैं किन्तु उनके भविष्य-कथन आवश्यक रूप से सत्य नहीं हो सकते, विशेषकर योगियों के बारे में भविष्यवाणी जो अपने और दूसरों के भाग्य को भी बदल सकते हैं। उन्होंने कलकत्ते के प्रसिद्ध ज्योतिषी नारायण ज्योतिषी की कहानी सुनायी जिनके श्रीअरविन्द के बारे में भविष्य-कथन सब सच निकले सिर्फ़ एक को छोड़ कर जिसमें उन्होंने कहा था कि श्रीअरविन्द ६३ वर्ष की उम्र में एक गम्भीर रोग के शिकार हो जायेंगे; किन्तु उन्होंने यह भी कहा था कि वे अपनी यौगिक शक्ति से रोग पर विजय पा सकते हैं और तब वे पूरी आयु तक जीवित रहेंगे। "देखो, मैं अभी तक जीवित हूँ।" श्रीअरविन्द ने मुस्कुराते हुए कहा था। वे इस विश्व के क्षेत्र में कुछ भी पूर्वनिर्धारित तथा अटल नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में हर चीज़ सम्भावनाओं का एक खेल है तथा योगी इन सम्भावनाओं को बदल सकता है, यहाँ तक कि दूसरों के तथा अपने भाग्य को भी। यदि यह सच है तो ज्योतिष के लिए श्रीअरविन्द के जीवन तथा कर्म को निर्धारित करना निरी मूर्खता है—हम सबने सोचा। किन्तु उनकी जिज्ञासा ने हमें उलझन में डाल दिया। जो भी हो, यह पता चला कि ज्योतिषी ने कुछ मामूली बीमारी का संकेत दिया था। हम लोगों ने मज़ाक का आनन्द लिया, जैसे एक ऐसे ही अवसर पर लिया था जिसका विवरण के.डी.सेठना ने अपने लेख "द पार्सिंग ऑफ़ श्रीअरविन्द" में किया है। दर्शन चल रहा था। एक विशाल जनसमूह का

प्रवाह अपने अर्पणों के साथ आगे बढ़ता रहा। एक समय ऐसा भी प्रश्न उठा कि दर्शन को क्यों न स्थगित कर दिया जाये, किन्तु भक्तों के हृदय की चिन्ता तथा निराशा को ध्यान में रखते हुए उनकी बेचैनी और शायद अनुचित थकावट के बावजूद ऐसा नहीं किया गया। हर चीज़ ठीक-ठाक, निर्बाध चल रही थी—श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द की आनन्दप्रद उपस्थिति से व्याप्त वातावरण में नीरवता और शान्ति का राज था। क़रीब दो घण्टों के बाद भीड़ में एक बेचैनी से भरी हलचल के साथ यह अफ़वाह फैल गयी कि श्रीअरविन्द अस्वस्थ हैं। लोग जल्दी-जल्दी उनके आशीर्वाद लेते गये और अपनी बाहरी दृष्टि के क्षितिज से परे लोगों ने देखा कि वे श्रीमाँ के साथ एक शाश्वत अन्तरंग सहभागिता तथा सादृश्य में विराजमान हैं। बेचैनी का समाचार फिर नहीं सुना गया। किन्तु दर्शन के तुरन्त बाद रोग के लक्षण पहले से कहीं अधिक गम्भीर दिखायी पड़े और स्पष्ट रूप से रोग का दबाव इस हद तक आगे बढ़ गया कि 'कैथिटर' का प्रयोग अब और टाला न जा सका। इसकी सहमति मिल गयी। डॉ. सान्याल को तुरन्त आने का तार दे दिया गया। उन्हें पहले ही, आवश्यकता पड़ने पर, चल पड़ने के लिए तैयार रहने की चेतावनी दे दी गयी थी।

उपकरण के प्रयोग से रुकावट दूर हो गयी और हम लोग प्रसन्नचित्त महसूस करने लगे। किन्तु हमारा आनन्द क्षणिक था। क्योंकि उपकरण के प्रयोग से संक्रमण और संक्रमण से बुखार होने लगा। वैसे यह सामान्यतया होता ही है, फिर भी एक अप्रिय लहर ने हमें मानों प्रकम्पित कर दिया। ऐसे मौक़े पर डॉ. सान्याल का आगमन ऊष्मादायक धूप के समान था। उन्होंने अपने शान्त आत्म-विश्वास से हमारी सारी चिन्ताओं को दूर कर दिया। हम लोगों ने उन्हें पिछली बार श्रीअरविन्द को देखने के बाद की चिकित्सा-सम्बन्धी सभी प्रगतियों से अवगत कराया। उन्हें आश्चर्य हुआ कि कैसे एक छोटा-सा नगण्य बादल का धब्बा, जिसे उन्होंने अपनी चेतना के मापदण्ड से रोग के आरम्भिक चरण में देखा था, धीरे-धीरे, लगभग धूर्तता से विशाल, विकसित होता गया और पूरी भौतिक सत्ता पर अधिकार जमा बैठा। उन्होंने अपने-आपसे प्रश्न किया, "यह शत्रु किस प्रकार श्रीअरविन्द की शक्तिशाली क्रिया के विरुद्ध उन पर अविश्वसनीय अधिकार कर बैठा? उन्होंने स्वयं को एक बार रोगमुक्त कर लिया था, उसके बाद क्या हो गया?

क्या उन्होंने रोग को रोकने के लिए कोई क़दम नहीं उठाया? अन्यथा मुझे कोई कारण नहीं दीखता कि क्यों यह इस हद तक बढ़ गया?" इन प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सका। मैंने जो निरीक्षण किया वह यह था कि जब कि देवताओं की भाषा में और उनके प्रतीकों में हम सब मुख्यतः मानवजाति की भावी गरिमा के धीर-विकास में लगे हुए थे, रोग भी साथ-साथ मन्द गति से आगे बढ़ता गया। श्रीअरविन्द ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, चाहे इसका कारण समय का अभाव रहा हो या उन्होंने परवाह नहीं की। किन्तु यह हमेशा एक रहस्य बना रहा। हम ऐसा कह सकते हैं कि उन्होंने रोग को *सावित्री* की इतिश्री तक धीरे-धीरे और क्रमशः आगे बढ़ने की स्वीकृति दे दी जिसका कारण हम लोगों को ज्ञात नहीं है, जिसके बाद उन्होंने अपना सारा काम बन्द कर दिया और रोग पर से नियन्त्रण हटा लिया। इस चरण के बाद रोग की स्थिति के तेज़ी से बिगड़ने की केवल यही बुद्धिसम्मत व्याख्या हो सकती है। जो भी हो, डॉ. सान्याल और हम सब भी अभी तक अन्तिम परिणाम के प्रति आशावान् थे। हमारा रात्रि-जागरण चलता रहा, किन्तु श्रीअरविन्द अब अपने परिवेश से स्वयं को निवर्तित करते प्रतीत हो रहे थे और रुकावट से मुक्ति ने इस उद्देश्य की प्राप्ति में मदद की। यह स्पष्ट था कि उन्हें शारीरिक कष्टों की चिन्ता की अपेक्षा गहरी डुबकी अधिक उपयोगी लगी चाहे वह उनके जिस किसी प्रयोजन के लिए भी हो। लगता था कि उन्होंने शरीर को अपनी क्रिया और प्रतिक्रिया करने के लिए स्वीकृति दे दी थी जब कि वे स्वयं आन्तरिक रूप से वैश्व महत्त्व के अधिक रहस्यमय कार्य में लगे रहते थे। जिस शरीर को उन्होंने धारण किया था उसने इनकी अच्छी तरह सेवा की थी, तथा जैसा कि श्रीमाँ ने कहा, इसने हमारे लिए सब कुछ झेला है, सहन किया है, सब कुछ किया है और पाया है। अब यदि यह उनकी गतियों की देवतुल्य धारा के लिए बाधा बन गया है तब वे उसे परिवर्तित क्यों नहीं कर देते? जिस प्रकार उन्होंने अपनी शारीरिक अक्षमता को अपने कार्य में कष्ट पहुँचाने नहीं दिया और शुरू से अन्त तक वही ज्वाला और आवेग बनाये रखा, उसी तरह कार्यपूर्ति के पश्चात् उन्होंने शरीर के कष्ट को अपने गुह्य उदात्त उद्देश्य की पूर्ति में अड़चन बनने नहीं दिया। इस भयंकर असमर्थता से भी उन्होंने अधिकतम लाभ उठाया। उनका स्वभाव परिस्थितियों के सामने

झुक जाना कभी नहीं रहा, चाहे वे कितनी भी विरोधी क्यों न रही हों। यदि उन्हें एक मोर्चे पर झुकना भी पड़ता तो दूसरे पर पूरी क्षतिपूर्ति वे प्राप्त कर लेते थे। यदि उन्हें पहले से मालूम भी रहता कि हार और विफलता निश्चित हैं, फिर भी यह उन्हें कार्य करने और अन्त तक संघर्ष करने से रोक नहीं सकता था। "यदि मुझे मालूम भी हो कि मेरा 'मिशन' विफल हो जायेगा, तब भी मैं अन्तिम क्षण तक कार्य करता रहूँगा", ये शब्द उन्होंने एक पत्र में लिखे थे। *गीता* का निष्काम कर्म उनका आदर्श वाक्य था। इसका एक रोचक उदाहरण जो 'क्रिप्स मिशन' से सम्बन्धित है और अब इतिहास बन चुका है, यहाँ दिया जा सकता है। जब वह 'मिशन' भारत पहुँचा, हर व्यक्ति जानता है कि कैसे श्रीअरविन्द ने विशेष प्रयास करके इसे स्वीकार कर लेने के लिए सभी बड़े नेताओं से अनुरोध किया, और यहाँ तक कि अपने एक शिष्य को दूत बना कर दिल्ली भेजना स्वीकार किया। किन्तु उसके दिल्ली के लिए प्रस्थान करने पर उन्होंने स्पष्ट रूप से बेझिझक कहा कि इसका परिणाम कुछ नहीं निकलेगा। 'मिशन' निष्फल हो जायेगा। तब हम लोगों ने कहा, "तब आपने यह सब कष्ट क्यों उठाया?" उन्होंने मुस्कुरा कर उत्तर दिया, "मैंने थोड़ा-सा *निष्काम कर्म* किया है।" ऐसा था उनका जीवन—गुह्य और बाह्य दोनों। इसीलिए इनका विरोधी इनकी अप्रत्याशित चालों से हमेशा चकित रह जाता। भागवत कूटनीतिज्ञ जैसे कि वे थे, हम लोगों को अभी भी यह समझना-देखना बाक़ी है कि इस उच्चतम रणनीति का सर्वोच्च उद्देश्य क्या था। अन्धकार से घिरी आकृति के आगमन को उन्होंने अनदेखा नहीं किया था। उन्हें मालूम हो गया था कि संघर्ष अवश्यम्भावी है, एक घोर युद्ध और इसीलिए उन्होंने वही पद्धति अपनायी जिसे अपने जीवन में वे हमेशा ही अपनाते रहे थे—किसी भी सम्भाव्य घटना के लिए पहले से तैयार रहना। जैसा कि वे हमेशा समय के आगे चला करते थे, इसलिए उन्होंने प्रत्येक क़दम एक ठोस पूर्वज्ञान तथा दिव्य शक्ति के साथ उठाया जो हमारी तात्कालिक बुद्धि की समझ में नहीं आया। अब हम उनके रहस्यमय वाक्यांशों तथा आकस्मिक टिप्पणियों के अर्थ को समझते हैं। बहुतों ने हम लोगों से यह प्रश्न किया कि देहान्त से पहले क्या उन्होंने कोई सन्देश दिया था, कार्य, साधना के बारे में कोई सलाह इत्यादि। उत्तर है, 'हाँ' तथा 'नहीं'। 'नहीं'! क्योंकि पूरी तरह अन्दर

निवर्तित हो जाने के बाद उन्होंने कोई कार्य नहीं किया, कोई शब्द नहीं कहा, सिवाय रोग के विषय में। 'हाँ', क्योंकि उस स्थिति में चले जाने के बाद, जैसा कि मैंने कहा है, *सावित्री* उनका अन्तिम कार्य था तथा इसके सुनहले पत्र पर अन्तिम मुहर और हस्ताक्षर थीं वे पंक्तियाँ जो हम लोगों को पुनरुक्तियाँ लगती थीं। पुनरुक्तियाँ वे अवश्य थीं, किन्तु अब वे उनके योग के सम्पूर्ण रहस्य के उद्घोषक उद्घाटन के समान हमारे सामने प्रकट हैं : श्रीमाँ के प्रति आत्म-समर्पण करो। उन भविष्योद्घोषक पंक्तियों को हम सब पढ़ें तथा उनका अर्थ स्फटिक के समान स्पष्ट हो जायेगा :

आ सकता है ऐसा एक दिन जब उसे होना होगा निस्सहाय खड़ा
विश्व के और उसके अपने सर्वनाश के संकटापन्न छोर पर,
करती वहन अपने एकाकी वक्ष पर जग का भविष्य
करती वहन मानव की आशा एकमात्र शेष बच गये हृदय में
एक अन्तिम भीषण छोर पर, विजय-हित अथवा पराजय के लिए।

उस भयंकर नीरवता में केवल अकेली औ' हारी-थकी
निर्णायक घड़ी की, जगत् के भाग्य में

जीतना होगा अकेली उसे अथवा पराजित अकेली।

पुकारो नहीं देवलोक को क्योंकि वही अकेली कर सकती है त्राण
वही केवल कर सकती है आत्म-त्राण औ' त्राण जगत् का[१]

वे 'बुक ऑफ़ डेथ' को समाप्त करने की जल्दी में नहीं थे। उनका प्रधान कार्य पूरा हो चुका था इसलिए इसकी समाप्ति पर उनका मुखमण्डल शान्त और सन्तुष्ट मुस्कान से खिल उठा। जो सर्वोच्च महत्त्व का था वह हम लोगों को बता दिया गया था और जो महत्त्वपूर्ण नहीं था उसके बारे में उन्होंने इतमीनान के लहजे में बताया, "इसके बारे में हम बाद में देखेंगे।" वे भली-भाँति जानते थे कि उनका तात्पर्य क्या था। अब, उस महत्त्वपूर्ण

१. *सावित्री*

सन्देश को देने के पश्चात् धीरे-धीरे उनकी चेतना अन्तर्मुखी हो गयी और वे अधिक-से-अधिक अन्तर्लीन रहने लगे। चिकित्सा-विशेषज्ञ कहेंगे, "यह मामूली यूरेमिक कोमा है।" जो भी हो, मैं स्वयं डॉ. सान्याल के शब्दों को उद्धृत करता हूँ : "उस कोमा से बाहर आने पर रोगी प्रत्येक एक या दो घण्टे पर कुछ पीने के लिए माँगता है, समय पूछता है। उनका कोमा कुछ अनोखा ही होगा। कम-से-कम मैंने अपने चिकित्सीय अनुभव की पूरी अवधि में इस प्रकार का कोमा नहीं देखा है।"

वह जिस प्रकार का भी रहा हो, हम लोगों की समस्या अधिक कठिन हो गयी। हमने पूर्ण रूप से उनकी शक्ति पर ही भरोसा किया था, किन्तु परिणाम से हमारी आशा को बल नहीं मिला। हम अपनी महँगी गोलियों और सूइयों से उनकी चिकित्सा जारी रख सकते थे, किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति के सहारे के बिना भला उनका क्या प्रभाव पड़ता? हम मानव केवल अपने ही साधनों के विषय में सोच सकते हैं, चाहे वे अच्छे हों या बुरे; आवश्यकता पड़ने पर हम उन्हीं पर निर्भर करते हैं। किन्तु जिस व्यक्ति ने ५० वर्षों से भी अधिक समय तक कोई दवा न ली हो उसे इतनी शक्तिशाली दवाएँ कैसे दी जायें, यह उलझन में डालने वाला दूसरा प्रश्न था। जिसने भी श्रीअरविन्द को निकट से देखा है वह कभी भी नमनीय, प्रदीप्त तथा विशुद्ध शरीरवाले इस भागवत बालक को नहीं भूलेगा। जब वे मेज़ पर लिखने के लिए बैठा करते थे तब उनकी निरावरण देह, उनके सुडौल हस्त, उनकी लम्बी सुकोमल उँगलियाँ—उनमें कुछ भी अपरिष्कृत मानव-स्वभाव न था—मानों वे स्फटिक पारदर्शी प्रकाश से आप्लावित हों, श्वेत दीप्ति, जो एक्सरे के समान आर-पार की चीज़ें दिखा सके। कितनी ही बार मैंने यह कान्ति देखी है जब वे मेज़ पर लिखने के लिए अथवा विश्राम के लिए बैठा करते थे अथवा जब वे अपने अर्ध-अनावृत शरीर, सिर के पीछे लगे हाथों तथा एक जाग्रत् स्वप्न में मुस्कुराते होठों के साथ पलंग पर लेटे रहते थे मानों भगवती माता की गोद में लेटे हों! शरीर का प्रत्येक अंग मानव के छद्मवेश में एक देव का चित्र प्रस्तुत करता था जिसके साथ सामान्य मानवीय विधि से छेड़-छाड़ नहीं की जा सकती थी। इस दख़लंदाज़ी का अर्थ होता अपवित्रीकरण। परन्तु हाय! मानवीय आवश्यकता न कोई विधान जानती है, न किसी व्यक्ति का सम्मान करती

है। और हम लोगों ने उत्पीड़न के अपने सभी उपकरणों का उन्हें शिकार बनाया, यद्यपि अपने मानवीय अज्ञान को सन्तुष्ट करने के कृपालु संकेत के रूप में बहुत पहले इसके लिए स्वीकृति ले ली गयी थी। उन्हें मालूम था कि कैथिटर का कोई लाभ नहीं होगा और उन्होंने ज़ोर देकर इसके प्रयोग के लिए मना कर दिया था। किन्तु, क्योंकि हमारे अन्दर न तो गहरी दृष्टि थी, न हम अपनी अभ्यस्त भाषा में प्रयुक्त शब्दों का उचित मूल्यांकन कर पाये, हमने उन ख़तरनाक उपचारों पर बल दिया जिन पर हमारा विश्वास था। जब रोग बदतर मोड़ ले रहा था हम लोगों ने बार-बार उनसे इसके उपचार के लिए अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रयोग करने का आग्रह किया, क्योंकि हमें यह सिखाया गया था तथा अनुभव कराया गया था कि हर रोग के पीछे, जैसे हर अन्य चीज़ के पीछे भी, कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं जो मदद करती और विघ्न डालती हैं। इन शक्तियों के यथोचित सामञ्जस्य से ही सफलता मिलती है। जो सचेतन या अचेतन रूप से इन शक्तियों को सञ्चालित करना जानते हैं वे अपने जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं। हम सब जानते थे कि उनकी शक्ति की प्रभावकारी सहायता के बिना हमारे सारे उपचार इस गहरे रोग की ऊपरी तल पर अभिव्यक्ति के लिए अल्पकालिक प्रभाव ही सिद्ध होंगे। परन्तु जब भी हम लोगों ने उनसे प्रश्न किया, हमें एक रहस्यमय मौन ही मिला। जो भी हो, यह विश्वास करने का हमारे पास कोई सकारात्मक कारण न था कि वे रोग के प्रवाह के प्रति उदासीन थे अथवा वे एक अधिक गम्भीर संघर्ष में व्यस्त थे जिसका महत्त्व उस चरण में अपने रोग से मुक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक रहा होगा। अतः, जैसे-जैसे रोग अधिक गम्भीर होता गया, उनकी सेवा में नियुक्त हम सबका उत्तरदायित्व बढ़ता गया। हर अन्धकारपूर्ण संकेत और लक्षण का अवतरण हमारे किंकर्तव्यविमूढ़ मनोभाव पर दबाव डाल रहा था। फलतः हम लोगों ने रक्षा के वे सभी साधन अपनाये जो हमें उपलब्ध थे। किन्तु निर्णय अन्यथा निर्धारित हो चुका था!

अन्त में प्रथम और द्वितीय दिसम्बर को खेलकूद और नाटक के कार्यक्रम के साथ विद्यालय का वार्षिकोत्सव आ गया। पूरे आश्रम का ध्यान व्यस्तता और हलचल के बीच उसी में लगा था और किसी को कभी यह सन्देह नहीं हुआ कि एक और नाटक—विराट् त्रासदी—भाग्य के उन क्षणों

में श्रीअरविन्द के बन्द कक्ष में खेला जा रहा था। शिष्यों की नज़र से रोग को छिपा कर रखा गया था और बीमारी की स्थिति भी कुछ ऐसी थी कि उसे गुप्त रखा जा सकता था। पर अब परदा उठा दिया गया क्योंकि समारोह के सफल समापन के साथ रोग के लक्षणों ने गम्भीर मोड़ ले लिया मानों इस दिन तक जान-बूझ कर रोक कर रखे गये उग्र ज्वार को अब मनमानी छूट दे दी गयी हो। मैं कहता हूँ 'मानों' परन्तु यह निस्सन्देह ऐसा ही था, क्योंकि जब उन्हें २ दिसम्बर की रात सूचना दी गयी कि समारोह का सफलतापूर्वक समापन हो गया, तब उन्होंने एक बड़ी मुस्कान के साथ टिप्पणी की, "आह, यह समाप्त हो गया!" तभी उन्होंने शत्रु को, जो अब तक दूर रखा गया था, क्रोध से कूदने की छूट दे दी और श्रीअरविन्द ने और अधिक गहरी डुबकी लगा ली तथा पार्थिव द्रव्य की आवश्यकता के साथ अपनी भौतिक सत्ता की आख़िरी कड़ी तोड़ दी।

यह ४ दिसम्बर का स्मरणीय दिन था, स्वर्णिम अक्षरों में सदा के लिए लिखित दिनांक। श्रीअरविन्द गहराई से पूरी तरह निकल आये और उन्होंने बैठने की इच्छा प्रकट की। हम लोगों की आपत्ति के बावजूद उन्होंने आग्रह किया। कुछ समय के बाद हमने देखा कि सभी कष्टदायक लक्षण जादू की तरह ग़ायब हो गये थे और वे एक बार पुनः एक सामान्य स्वस्थ व्यक्ति थे। फिर वे कुर्सी पर बैठे। यह परिवर्तन इतना एकाएक और अप्रत्याशित था कि हम सबने आनन्द और अचरज से एक दूसरे को देखा। "अन्ततोगत्वा हमारी प्रार्थना सुन ली गयी है!" हमारे भक्तिभरे शान्त हृदय में यही भाव उमड़ रहा था। यह अविश्वसनीय था! अब हम लोगों ने अपने प्रश्न को दोहराने का साहस किया: "रोग से मुक्ति के लिए क्या आप अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर रहे हैं?" "नहीं!" एक प्रघातदायक उत्तर आया। हम सबको अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ, इसलिए अपने अविश्वास की पुष्टि के लिए हमने पुनः पूछा। अब भ्रान्ति बनाये रखने का कोई आधार न था। जो हम सबने सुना वह तलवार की धार के समान चिकना और तेज़ था। तब हमने साहसिक सवाल किया: "क्यों नहीं? यदि आप शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे तब रोग से मुक्ति कैसे मिलेगी?" इसका उन्होंने केवल एक रहस्यमय उत्तर दिया, "समझा नहीं सकता; तुम नहीं समझोगे।"

यहाँ अन्ततः रहस्य की कुञ्जी मिली! इसीलिए रोग एक-एक क़दम

कर आगे बढ़ता गया, नीचे उतरने के मार्ग पर तीन स्पष्ट चरणों में: *सावित्री* का समापन, दर्शन तथा विद्यालय का वार्षिकोत्सव—प्रत्येक चरण में गहरी होती हुई निवर्तित स्थिति। अन्तिम चरण में श्रीमाँ ने टिप्पणी की, "जब भी मैं वहाँ होती, मैं उन्हें अतिमानसिक ज्योति को नीचे खींचते हुए देखती थी।" इससे यह स्पष्ट था कि श्रीअरविन्द किस कार्य में व्यस्त थे। उन्होंने अपनी दृष्टि और एकाग्रता किसी और चीज़ पर केन्द्रित कर दी थी जो उनके दृष्टिकोण से शारीरिक पीड़ाओं पर ध्यान देने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण रही होगी। परन्तु हमारे अन्दर न अन्तर्दृष्टि थी न बोध-शक्ति, इसलिए हमने सोचा कि ज्योति का अवतरण हमारे हृदय की कामना को पूरा करेगा। यद्यपि एक ओर उनके रूखे उत्तर ने हमारे आख़िरी मोर्चे को ध्वस्त कर दिया था, पर दूसरी ओर इस अचानक परिवर्तन ने विश्वास और आशा जगा दी—*"कुछ देव-सम आशा के झलकते स्कन्ध"*[१] जिसने हमें पूरी तरह उल्लासमय बना दिया था। बहुत बाद में ही जब सूरज हमारे क्षितिज के उस पार चला गया, इन असाधारण घटनाओं ने अपने वास्तविक महत्त्व को प्रदर्शित किया।

एक घण्टे के पश्चात् वे अपने पलंग पर वापस आ गये और इसके साथ ही पूरी तरह लौट आये रोग के सभी चिह्न तथा लक्षण। इस अल्पकालिक विश्राम ने मानों उन्हें आगे बढ़ती काली छाया के साथ एक और भिड़न्त का समय दे दिया जो उनके कार्य पर असमय परदा डालने का प्रयास कर रही थी। निर्णायक क्षण से आधा घण्टा पहले उन्होंने कुछ जल पिया और सेवाओं के लिए सबके ऊपर करुणा और कृतज्ञता-भरी अन्तिम दृष्टि डाली, और फिर आन्तरिक गहराई में अन्तिम छलाँग लगा ली। तब भी, हमें अल्पतम सन्देह तक नहीं हुआ कि *"इसी दिवस को सत्यवान को करना होगा देहत्याग।"*[२]

दूसरे दिन मुँह अँधेरे ही चारों ओर खबर फैल गयी। शिष्यों की प्रतिक्रिया का वर्णन करने से अच्छा होगा उसकी कल्पना कर लेना। रात्रि के सन्नाटे में एक-एक कर वे आते गये और यह देखने के लिए स्वर्ग की सीढ़ियाँ चढ़ने लगे जिस दृश्य को पहले कभी किसी ने नहीं देखा था।

१. *सावित्री*
२. *वही*

उन्होंने मृत्यु नहीं, मृतोत्थान नहीं, न निर्वाण में निवर्तन देखा बल्कि देखी एक भव्य विश्रान्ति, शक्ति से स्पन्दित होती मृत्यु, प्रत्येक अंग में ज्योति और सुषमा, मानों नृपों के नृप की देह में मृत्यु ने अमरत्व प्राप्त कर लिया हो। जड़-द्रव्य की कसौटी पर सत्य का जीवन्त प्रतिदान, यह अब शरीर न था, बल्कि था एक स्वर्णिम आवरण जो उस सत्य को अर्ध-आच्छादित करता था और अर्ध-उद्घाटित। जिन्हें अन्तर्दृष्टि प्राप्त थी उन्होंने सत्य का अनुभव कर लिया था और जिनमें अन्तर-श्रवण की शक्ति थी उन्होंने अपने हृदय की प्रशान्त गुहा में यह भेदक घोषणा सुनी थी, "मैं यहीं हूँ, मैं यहीं हूँ!"

उसी जाग्रत् चेतना में हम अपने गुरु द्वारा निर्धारित लक्ष्य की ओर आगे बढ़ रहे हैं जिसके लिए उन्होंने अन्तिम श्वास तक कार्य किया और लक्ष्य की सिद्धि तक कार्य करने का वचन दिया है। परम सृष्टिकर्त्री तथा उस लक्ष्य की सिद्धि को चरितार्थ करने वाली श्रीमाँ हमारी मार्गदर्शिका तथा भगवती हैं। श्रीअरविन्द की गुह्य तथा आध्यात्मिक अक्षय उपलब्धियों तथा अतिमानसिक ज्योति से सम्पन्न, जो स्वतः ही उन्हें हस्तान्तरित कर दी गयी थीं—वे हमें उस साँचे और आकृति में गढ़ रही हैं जिसे भावी मानवता के रूप में श्रीअरविन्द ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा था। उस महान् घटना के बाद जो कोई आश्रम में आया, वह अवश्य ही विजय-प्राप्ति के उस संकल्प से प्रभावित हुआ जिसे उनके बलिदान ने प्रत्येक के हृदय में उत्पन्न कर दिया था। समाधि के पर्यावरण से सहस्रों ज्वालाएँ उठती प्रतीत होती हैं जो हमारी आत्मा में सदा पुनर्युवनकारी अग्नि के समान प्रज्वलित हैं, जब कि श्रीमाँ की सत्ता तथा शरीर के साथ विलयित श्रीअरविन्द की उपस्थिति आवरण के समान यहाँ के सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त है। कोई भी उनकी उपस्थिति को देख सकता है, उनके पदचापों को, उनके लयात्मक स्वर को सुन सकता है, सदा सतर्क, भौतिक शरीर के भार से मुक्त। एक दिन बलिदान फल देगा, जो उन्होंने *सावित्री* में चित्रित किया है वह सत्य सिद्ध होगा। क्योंकि, अन्ततः, *सावित्री* क्या है यदि वह श्रीमाँ और श्रीअरविन्द की आन्तरिक जीवन-वृत्तान्त-कथा नहीं है। उन्होंने महाकाव्य में जो चित्रित किया है वही सच्चाई के साथ विश्व-मंच पर अभिनीत किया गया है। उस विस्मयकारी नाटक के प्रथम खण्ड पर यवनिका-पात हो चुका है तथा शेष दृश्य परदे के पीछे खेला जा रहा है। अन्तिम सर्वोच्च शत्रु के साथ युद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ है; भले पार्थिव रणक्षेत्र पर यह प्रतीयमानतः विफल रहा है, लेकिन गुह्य लोकों में भयानक रूप में अभी भी चल रहा है। जब द्वन्द्व-युद्ध के बाद परदा उठाया जायेगा तब हम 'बुक ऑफ़ डेथ'—मृत्यु-खण्ड—का सुरीला गायन सुनेंगे, तब धरती के मंच पर 'एपिलॉग' अर्थात् भरतवाक्य या उपसंहार का मूर्त रूप देखेंगे, और विश्व-भर में प्रतिध्वनित और पुनर्प्रतिध्वनित होगा विजय का जीवन्त भावप्रवण उद्घोष :

"मैं यहीं हूँ, मैं यहीं हूँ!"

श्रीमाँ की बिदाई क्या बिदाई थी?

१७ नवम्बर १९७३ को आश्रम की ओर से यह घोषणा की गयी कि माताजी ने अपना शरीर त्याग दिया है। माताजी का शरीर तीन दिन तक आश्रम के ध्यान-कक्ष में रखा रहा और हज़ारों ने बड़ी गम्भीरता के साथ चुपचाप दर्शन किये और बीस तारीख़ को माताजी का शरीर भी श्रीअरविन्द की समाधि में ही समाधिस्थ कर दिया गया। माताजी और श्रीअरविन्द एक और अभिन्न थे। माताजी ने हमें बताया था कि श्रीअरविन्द गये नहीं हैं, वे यहाँ हैं और बहुत अधिक जीवित-जाग्रत् रूप में हैं और जब तक उनका काम पूरा नहीं हो जाता, यही रहेंगे। हम माताजी के बारे में भी यही कह सकते हैं। माताजी ने हमें छोड़ा नहीं है। वे अब भी हमारे साथ हैं। हमारे सभी सच्चे प्रयासों में मार्ग दिखाती और सहायता करती हैं। वे तब तक बनी रहेंगी जब तक उनका काम पूरा नहीं हो जाता।

माताजी कविता नहीं लिखा करती थीं, पर एक लड़की के आग्रह पर एक बार उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिख दी थीं। जिन्हें माताजी से प्रेम है उनके लिए ये आज भी उतनी ही सच्ची हैं :

"I have a sweet little Mother
Who lives in my heart
we are so happy together
That we shall never part."

(मेरी एक छोटी-सी माँ हैं जो मेरे हृदय में निवास करती हैं। हम दोनों एक साथ बड़े ख़ुश हैं और कभी एक-दूसरे से अलग न होंगे।)

"Permit Sweet Mother that we be
Now and forever more
Thy simple children loving Thee
More and still more."

(मधुर माँ, वर दे कि हम हमेशा तेरे सरल, प्रेम-भरे बालक बने रहें, तुझसे अधिकाधिक प्रेम करते रहा करें।)

मनुष्य भगवान् को अभिव्यक्त करने के लिए बनाया गया था। इसलिए उसका कर्तव्य है कि भगवान् के बारे में सचेतन हो और अपने-आपको पूरी तरह 'उनकी इच्छा' के प्रति अर्पण कर दे। बाक़ी सब, चाहे कुछ भी क्यों न दीखता हो, मिथ्यात्व और अज्ञान है।

—श्रीमाँ

उनके प्रति हमारी चरम 'कृतज्ञता'

समाधि पर उत्कीर्ण

तुम्हारे प्रति जो हमारे प्रभु के भौतिक आवरण रहे हो, तुम्हारे प्रति हम असीम कृतज्ञता प्रकट करते हैं। तुमने हमारे लिए इतना कुछ किया, हमारे लिए कर्म किये, संघर्ष किये, कष्ट झेले, आशा की, इतना सहन किया, तुमने हम सबके लिए संकल्प किये, सबके लिए प्रयत्न किये, तैयारी की, हमारे लिए सब कुछ प्राप्त किया, तुम्हारे आगे हम नतमस्तक हैं और यह प्रार्थना करते हैं कि हम एक क्षण के लिए भी तुम्हारे ऋण को न भूलें।
९ दिसम्बर १९५० **—श्रीमाँ**

कान्तिमयी यज्ञ-वेदी

उनकी समाधि से हज़ारों अग्निशिखाएँ उठ कर हमारी अन्तरात्माओं में पैठती प्रतीत होती हैं, निरन्तर नवीकृत होती हुई वह अग्नि प्रज्वलित हो रही है, उनकी चरम उपस्थिति सबको घेरे हुए है, वह श्रीमाँ की सत्ता तथा शरीर के साथ तदात्म होकर सारे वातावरण को प्रोज्ज्वलित कर रही है। व्यक्ति उनकी 'उपस्थिति' को देख सकता है, उनके पैरों की आहट सुन सकता है, उनकी संगीत-लयात्मक वाणी से विभोर हो उठता है, अपने भौतिक शरीर की सीमा से मुक्त वे हमेशा सचेतन, हमारी निगरानी करते रहते हैं।

—नीरदवरण

ऋषभचन्द ने लिखा, "हमारे परम प्रिय गुरु के शरीर-त्याग के बाद आश्रम में बारह दिन ध्यानात्मक नीरवता तथा शान्ति छायी रहीं", उसके बाद सामान्य क्रिया-कलाप आरम्भ हुए, लेकिन कितना फ़र्क था! हर एक को अनुभव होता था कि आश्रम के वातावरण में एक 'चरम उपस्थिति' विराज रही है।

१४ दिसम्बर को श्रीमाँ ने साधकों को याद दिलाया, "श्रीअरविन्द के लिए शोक मनाना उनका अपमान करना है, वे तो हमारे साथ यहाँ उपस्थित हैं, सचेतन तथा जीवन्त।" और १८ जनवरी १९५१ में उन्होंने अधिक ध्रुव

आश्वासन दिया :

हम उनकी 'उपस्थिति' में खड़े हैं जिन्होंने रूपान्तर के अपने कार्य को अधिक पूर्ण रूप से करने के लिए अपना भौतिक शरीर निछावर कर दिया।

'वे' हमेशा हमारे साथ हैं, वे हमारे सभी विचारों, हमारी सभी संवेदनाओं तथा हमारी सभी क्रियाओं के बारे में जानते हैं।

—के.आर.श्रीनिवास आयंगर

गुह्य भागवत उत्सर्ग :

लोग यह नहीं जानते कि श्रीअरविन्द ने जगत् के लिए कितना ज़बरदस्त उत्सर्ग किया है। लगभग एक वर्ष पहले, जब मैं उनके साथ बातचीत कर रही थी, तो मैंने कहा कि मेरी इच्छा हो रही है कि अपना शरीर छोड़ जाऊँ। उन्होंने बड़े दृढ़ स्वर में कहा : "नहीं, यह हर्गिज़ नहीं हो सकता, अगर इस रूपान्तर के लिए ज़रूरी हुआ, तो मैं शायद चला जाऊँ, तुम्हें हमारे अतिमानसिक अवतरण और रूपान्तर के योग को पूरा करना होगा।"

*

... श्रीअरविन्द अपना शरीर छोड़ने के लिए बाधित नहीं थे, उन्होंने ऐसे कारणों से शरीर त्यागने का फ़ैसला किया जो इतने महान् हैं कि मानव-बुद्धि की पहुँच से परे हैं।

और जब तुम समझ नहीं सकते तो करने-लायक एक ही चीज़ होती है : आदरपूर्ण मौन बनाये रखो।

*

जब मैंने उनसे (८ दिसम्बर १९५०) को अपने शरीर को पुनरुज्जीवित करने के लिए कहा, तो उन्होंने स्पष्ट उत्तर दिया : "मैंने जान-बूझकर यह शरीर छोड़ा है। मैं इसे वापस न लूँगा। मैं फिर से अतिमानसिक तरीक़े से बनाये गये पहले अतिमानसिक शरीर में अभिव्यक्त होऊँगा।"

रूपान्तर होकर रहेगा

क्षण-भर के लिए भी यह विश्वास करने में न हिचकिचाओ कि

श्रीअरविन्द ने परिवर्तन का जो महान् कार्य ले रखा है उसकी पूर्णाहुति सफलता में ही होगी। क्योंकि यह वस्तुतः एक तथ्य है : हमने हाथ में जो काम लिया है उसके बारे में सन्देह की कोई छाया भी नहीं है...। रूपान्तर होने वाला है : कोई चीज़ उसे नहीं रोक सकती, 'सर्वशक्तिमान्' के आदेश को कोई विफल नहीं कर सकता। समस्त शंकाशीलता और दुर्बलता को उठा फेंको और उस महान् दिवस के आने से पहले, जब यह लम्बा युद्ध चिर विजय में बदल जायेगा, कुछ समय वीरता के साथ सहन करने का निश्चय करो।

—श्रीमाँ

अद्वितीय अवसर

दीनेन्द्रकुमार रॉय बड़ौदा में श्रीअरविन्द के बंगला के अध्यापक थे। वे श्रीअरविन्द के साथ दो वर्षों से अधिक रहे थे। "ओरोबिन्दो प्रसंगे" नामक बंगला पुस्तक से हम इधर-उधर के उनके कुछ संस्मरण दे रहे हैं : —

अरविन्द ने कभी पैसों की परवाह नहीं की, वे उसके प्रति बिलकुल उदासीन रहते थे। जब मैं बड़ौदा में था, उनकी अच्छी तनख़्वाह थी। वे अकेले थे, किसी प्रकार का कोई ठाठ-बाट न था, न ही वे फिज़ूलख़र्ची थे। लेकिन हर महीने के अन्त में उनके पास एक अधन्ना भी नहीं रहता था...

बातें करते समय अरविन्द खिलखिला कर हँसते थे... वे कभी बनते-ठनते न थे। महाराजा सयाजीराव के दरबार में जाते समय भी मैंने उन्हें उनके उसी सादे लिबास में देखा। क़ीमती जूते, कमीज़, टाई, कोट, हैट-टोपी—उनके पास इनमें से कुछ नहीं था, मैंने कभी उन्हें हैट लगाये नहीं देखा। (हालाँकि उन दिनों इन सभी चीज़ों का प्रचलन था और वे रहे भी थे इंग्लैण्ड में।)

उनकी पोशाक की तरह उनका बिस्तर भी बहुत सामान्य, किसी भी तरह के ताम-झाम के बिना होता था। न उस पर गावतकियों का जमघट, न ही और किसी भी तरह की आरामदेह चीज़ होती थी। बस बिछी होती थी एक साधारण-सी चादर, मुलायम गद्दा उन्हें पसन्द न था। बड़ौदा रेगिस्तान

के क़रीब है इसलिए जाड़ा-गरमी दोनों का ही भीषण प्रकोप रहता था, लेकिन मैंने उन्हें कभी मोटी रज़ाई या मोटा कम्बल लेते नहीं देखा, बारह महीने बस एक साधारण-सा कम्बल उनके बिस्तर पर रहता था। जब तक मैं उनके साथ रहा मुझे वे ऐसे संन्यासी लगे जो जगत् से उदासीन (सच्चे अर्थ में उदासीन—उत्+आसीन—ऊपर उठे हुए) लेकिन आत्म-अनुशासन में अति कठोर थे, किन्तु वे दूसरों के दुःख-दर्द में बहुत भावुक हो उठते थे। विद्यार्जन करना उनके जीवन का चरम उद्देश्य प्रतीत होता था। और इस उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए वे सक्रिय सांसारिक जीवन के शोरगुल में भी शान्ति के साथ तपस्यामय आत्म-साधना साध रहे थे...।

अरविन्द दोपहर के भोजन के समय अख़बार पढ़ा करते थे। मराठी खाना मुझे तो नहीं भाता था, लेकिन अरविन्द को उससे कोई परहेज़ न था। कभी-कभी तो खाना इतना बेस्वाद बनता था कि मुझसे एक गस्सा तक न निगला जाता था जब कि अरविन्द रोज़ की तरह निर्विकार खा लेते थे। मैंने उन्हें कभी नाक-भौं सिकोड़ते नहीं देखा, न कभी उन्होंने रसोइये से ही कुछ कहा! बंगाली खाना वैसे वे बहुत पसन्द करते थे... ख़ुराक उनकी बहुत कम थी, शायद उनके स्वभाव के कारण ही ऐसा था कि इतने मिताहारी होने पर भी वे इतना घोर मानसिक परिश्रम कर सकते थे। अपने स्वास्थ्य का वे ख़याल रखते थे... रोज़ शाम घण्टे-भर तेज़ क़दमों से घर के बरामदे में चला करते थे... वे संगीतप्रेमी थे, लेकिन न गाते थे न कोई वाद्ययन्त्र ही बजाते थे...।

अरविन्द दुनियादारी नहीं जानते थे, इसलिए कई बार लोग उन्हें ठग लिया करते थे; लेकिन जिस आदमी को न धन का मोह हो न दूसरी चीज़ों का, वह शोक नहीं मनाता, भले ही वह ठगा ही क्यों न जाये! बड़ौदा में सभी प्रतिष्ठित, सामान्य लोग उन्हें जानते थे और सब उन्हें बड़े आदर-सम्मान की दृष्टि से देखते थे... बड़ौदा के साहित्यिक-वर्ग ने तो उनकी अद्वितीय प्रतिभाओं के कारण उन्हें सर-आँखों पर बिठाये रखा था, अपने विद्यार्थियों के लिए वे देवतुल्य थे। विद्यार्थी अपने कॉलेज के ब्रिटिश प्रिंसिपल से कहीं ज़्यादा अपने इन बंगाली प्रोफ़ेसर को सम्मान देते, उन पर विश्वास करते। उनके पढ़ाने के तरीक़े पर सभी विद्यार्थी लट्टू थे...।

अरविन्द सुख-दुःख, सम्पत्-विपत्, यश-निन्दा सभी को समान भाव

से लेते थे... सभी कष्टों में शान्त रहते और हमेशा इस महान् उक्ति को याद करते : "हे प्रभो, मेरे हृदय में आसीन तू मुझे जिस तरह चलाता है मैं उसी तरह चलता हूँ," और वे हमेशा अपने आराध्य प्रभु की ध्यान-धारणा में मगन रहते। वह अग्नि जो किसी को भी जला कर भस्म कर देती उस अग्नि ने उनके व्यक्तित्व को अत्युज्ज्वलता में रूपान्तरित कर दिया था।

अरविन्द मेज़ के पास बैठ, लालटेन के प्रकाश में रात के एक बजे तक पढ़ा करते थे। न उन्हें मच्छर सताते थे न नींद। मैंने उन्हें हिले-डुले बिना एक ही मुद्रा में घण्टों बैठे देखा है। लौलीन, किताब में आँखें गड़ाये वे पढ़ते रहते थे; योगी-सदृश दीखते थे जो अपने चारों तरफ़ की हलचल से बिलकुल बेख़बर भागवत एकाग्रता में डूबा हो। मेरे ख़याल से घर में आग लग जाती फिर भी उनकी एकाग्रता भंग न होती! हर रोज़, बिना नागा वे उसी तरह विभिन्न यूरोपियन भाषाओं में—कविता, कहानी, इतिहास, दर्शन इत्यादि—न जाने कितनी-कितनी किताबें पढ़ा करते थे, उनकी मेज़ पर विभिन्न विषयों, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, अंग्रेज़ी, यूनानी, लैटिन इत्यादि कितनी ही भाषाओं की किताबें हुआ करती थीं जिन्हें मैं तो बस मुँह बाये ताकता ही रह जाया करता था...!

जो कोई एक बार भी, मात्र दस दिनों के लिए ही क्यों न हो, अरविन्द के साथ रह चुका हो, वह जीवन-भर उन्हें नहीं भूल सकता। मैं तो इतना सौभाग्यशाली था कि मुझे उनके साथ दो वर्षों से भी अधिक रहने का अद्वितीय अवसर प्राप्त हुआ...।

—दीनेन्द्रकुमार रॉय

मानस-सरोवर के अरविन्द

(सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्री ब्रह्मबान्धव उपाध्याय, जिनका पहले नाम भवानीचरण उपाध्याय था, श्रीअरविन्द के समकालीन, ये श्रीअरविन्द से बहुत प्रभावित भी थे। 'स्वराज' तथा 'सन्ध्या' इत्यादि पत्रिकाओं का सम्पादन करते थे। 'सन्ध्या' पत्रिका के निकलने की बड़ी बेसब्री से लोग बाट जोहा करते थे। ये स्वामी विवेकानन्द के भी साथी थे। कारावास की कड़ी सज़ा

भी इन्होंने भोगी; कहते हैं, इन पर जब मुकद्दमा चल रहा था तभी हर्निया की तकलीफ़ ने इन्हें आ घेरा।

जोशीले क्रान्तिकारी ये कहा करते थे कि अंग्रेज़ सरकार मेरी आत्मा का स्पर्श कभी नहीं कर पायेगी, मेरे इस पार्थिव शरीर का वे चाहे जो करें, मुझे उसकी कोई परवाह नहीं...।

इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि इन्होंने इच्छा-मृत्यु अपनायी। ४६ वर्ष की अल्पावस्था में जगत् को बहुत कुछ देकर ये चल बसे।

हम यहाँ 'सन्ध्या' पत्रिका से उद्धृत श्रीअरविन्द के बारे में उनका यह प्रसिद्ध लेख दे रहे हैं। जहाँ तक बन पड़ा, बंगला के साथ-साथ चलने की कोशिश की गयी है।—सं.)

अमल-शुभ्र अरविन्द को देखा है क्या? भारत के मानस-सरोवर में प्रस्फुटित शतदल! ये फ़िरंगियों के, इधर-उधर उगे 'लिली' या 'डैफ़ोडिल' नहीं हैं—निर्गन्ध! जिनमें केवल रंग की बहार होती है! केवल वर्णविलास होता है!! देवताओं की पूजा में नहीं लगते, जो यज्ञ-वेदी पर भी अनावश्यक होते हैं। वे तो केवल साहब-बीवी के साहिबाना आडम्बर होते हैं!! हमारे ये अरविन्द जगद्-दुर्लभ हैं। हिमशुभ्र वर्णवाले सात्त्विकता की दिव्य श्री हैं ये! बृहत् हैं, महत् हैं!! हृदय के विस्तार से भी ज़्यादा विस्तृत हैं! हिन्दुओं के स्वधर्म की महिमा में महान् हैं!! इस प्रकार के सम्पूर्ण और पवित्र पुरुष अरविन्द, जिनके अन्तर में वज्र-समान अग्नि सुलगती है, जिनका हृदय कमल-पत्र के समान है; परम ज्ञानी, ध्यान में समाहित ऐसे मानव को तुम त्रिभुवन में दीया लेकर ढूँढ़ने पर भी न पाओगे। मातृभूमि की बेड़ियाँ काटने के लिए फ़िरंगी-सभ्यता के माया-पाश को छिन्न-भिन्न करके, इस धरती के सुख-साधन को तिलाञ्जलि देकर, माँ के सुपुत्र अरविन्द "वन्दे मातरम्" पत्रिका के सम्पादन-कार्य के व्रत में लग गये। ये ही हैं ऋषि बंकिम के भवानन्द, जीवानन्द, धीरानन्द स्वामी।

खोखले फ़िरंगियों के पिछलग्गू क्यों बनते हो भला? उनकी 'पैम्फ़्लेटबाज़ी' से दूर रहो। ये अरविन्द स्वदेशियों के हृदय में देश-प्रेम की बाढ़ ले आयेंगे, मातृसेवा की उत्तेजना जगायेंगे। "वन्दे मातरम्" की वाणी सुन कर तुम्हारा भय भाग खड़ा होगा। बाहुओं में वज्रबल फूट पड़ेगा। रोम-रोम में अग्निस्रोत

प्रवाहित होगा तथा मरण तुम्हें वसन्तविलास के समान प्रतीत होगा। जिस तरह ओझा मन्त्र फूँक कर विष उतार फेंकते हैं उसी तरह "वन्दे मातरम्" मन्त्र में भी वही शक्ति है, उससे फ़िरंगियाना विष-जर्जरता भाग खड़ी होगी। तब तुम समझोगे कि यह बन्दूक-कमान, यह जेल-कारागार, यह क़ानून-अदालत, यह लाटसाहबी—सब फक्कड़ हैं! फ़िरंगियों का यह धूम-धड़ाका बस दो दिन की चाँदनी है, इसका अन्त होने-होने को है।

विलायत में पढ़-लिख कर भी विलायती अविद्या की पूतना-माया अरविन्द को मुग्ध नहीं कर पायी। अरविन्द शरतऋतु के सद्य-प्रस्फुटित कमल के समान अपने स्वदेश, स्वधर्म तथा सत्यभाव की महिमा में खिल कर जननी-जन्मभूमि के श्रीचरणपद्म में श्रद्धार्घ्य के समान शोभा पाते हैं! आहा! ऐसा कोई दूसरा होगा क्या कभी? इंग्लैण्ड में रह कर भी उन्हें फ़िरंगीपन छू तक नहीं गया। तभी तो उन जैसे माँ के सुपुत्र ने भवानी मन्दिर की प्रतिष्ठा की। आओ, हम सब "वन्दे मातरम्" मन्त्र के सहगान के साथ माँ को प्रणाम करें। स्वराज की प्रतिष्ठा में अब देर नहीं।

—ब्रह्मबान्धव उपाध्याय

क्षण-भर के लिए भी यह विश्वास करने में न हिचकिचाओ कि श्रीअरविन्द ने परिवर्तन के जिस महान् कार्य के लिए बीड़ा उठाया है उसकी पूर्णाहुति सफलता में ही होगी। क्योंकि यह वस्तुतः एक तथ्य है: हमने जो काम हाथ में लिया है उसके बारे में सन्देह की कोई छाया भी नहीं है...। रूपान्तर होगा ही होगा: कोई चीज़ उसे नहीं रोक सकती, सर्वशक्तिमान् के आदेश को कोई विफल नहीं कर सकता। समस्त शंकाशीलता और दुर्बलता को उठा फेंको और उस महान् दिवस के आने तक कुछ समय वीरता के साथ सहन करने का निश्चय करो, यह लम्बा युद्ध चिर विजय में बदल जायेगा।

श्रीअरविन्द का कार्य है एक अनोखा पार्थिव रूपान्तर।

'**श्रीमातृवाणी**', खण्ड १३, पृ. २२

यदि मृत्यु का घेरा न होता

"मृत्यु वह प्रश्न है जिसे प्रकृति सदा ही 'जीवन' के सामने उसे यह स्मरण दिलाने के लिए रखती है कि उसने अभी तक स्वयं को नहीं ढूँढ़ा है। यदि मृत्यु का घेरा न होता तो प्राणी सदा के लिए एक अपूर्ण जीवन के ढाँचे के साथ बँधा रहता। मृत्यु द्वारा पीछा किये जाने पर वह पूर्ण जीवन के विचार के प्रति जाग्रत् हो जाता है तथा उसके साधन और उसकी सम्भावना की खोज करता है।"

(श्रीअरविन्द, 'विचार और झाँकियाँ')

हमारे लिए यह विषय इतना सुपरिचित है कि इस पर और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं लगती। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसे प्रत्येक मनुष्य, जिसकी चेतना ज़रा भी जाग्रत् है, जीवन में कम-से-कम एक बार तो अपने-आपसे करता ही है। सत्ता की गहराइयों में जीवन को जारी रखने, उसे लम्बा करने और उसका विकास करने की एक ऐसी आवश्यकता विद्यमान है कि जिस क्षण मृत्यु के साथ व्यक्ति का पहला सम्पर्क होता है, चाहे वह सम्पर्क बिलकुल अकस्मात् हुआ हो, पर जिसका होना अनिवार्य है, तो उससे सत्ता में एक प्रकार का हटाव होता है।

कुछ में, जो संवेदनशील होते हैं, यह संत्रास पैदा करता है, दूसरों में रोष। व्यक्ति की अपने-आपसे यह पूछने की प्रवृत्ति होती है : "यह भयावह प्रहसन क्या है जिसमें हम बिना चाहे और बिना समझे हिस्सा लेते हैं? यदि मरना ही है तो हम पैदा ही क्यों होते हैं? प्रगति, उन्नति और अपनी शक्तियों के विकास के लिए किये गये प्रयत्नों से लाभ ही क्या यदि इनका अन्त ह्रास में, अधोगति और विघटन में होना है?..." कुछ विद्रोह करते हैं, दूसरे, निर्बल, निराश हो जाते हैं। यह प्रश्न सदा ही किया जाता रहा है : "यदि इस सबके पीछे एक सचेतन 'संकल्प' विद्यमान है तो यह 'संकल्प' दानवी प्रतीत होता है।"

परन्तु श्रीअरविन्द यहाँ हमें बताते हैं कि मृत्यु जड़-तत्त्व की चेतना में पूर्णता की प्यास और प्रगति की आवश्यकता को जगाने के लिए एक अनिवार्य साधन है, और यह कि इस महाविपत्ति के बिना सभी प्राणी

उसी अवस्था में, जिसमें वे थे, सन्तोष किये पड़े रहते—शायद...। यह निश्चित नहीं है।

परन्तु अब हम बाध्य हैं चीज़ों को उस रूप में लेने के लिए जैसी कि वे हैं और, अपने से कहते हैं कि इससे बाहर निकलने के साधनों का जैसे भी हो पता लगाना चाहिये।

वास्तविक बात तो यह है कि सभी चीज़ें सतत प्रगतिशील विकास की एक अवस्था में हैं, अर्थात् सारी सृष्टि, सारा विश्व एक पूर्णता की ओर आगे बढ़ रहा है और ज्यों-ज्यों व्यक्ति इसकी ओर आगे बढ़ता है यह पूर्णता पीछे हटती प्रतीत होती है कारण, जो किसी समय पूर्णता प्रतीत होती थी वह कुछ समय बाद वैसी नहीं रहती। हमारी चेतना की सूक्ष्मतम स्थितियाँ इस क्रम-विकास का साथ-ही-साथ अनुसरण भी कर लेती हैं और सीढ़ी पर ज्यों-ज्यों हम अधिक ऊँचे चढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारी प्रगति की लय विश्व-प्रगति की लय के साथ अधिक मेल खाने लगती है और भागवत विकास की लय के अधिक नज़दीक पहुँच जाती है। परन्तु स्थूल जड़-जगत् स्वभाव से ही कठोर है, वहाँ परिवर्तन धीमा, अत्यन्त धीमा होता है, मानव-चेतना की समय की अवधारणा के अनुसार तो यह परिवर्तन प्रायः अलक्ष्य-सा ही होता है।... और इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य गतियों में एक सतत असन्तुलन रहने लगता है और यह असमतोलता ही, आन्तरिक प्रगति की गति का अनुसरण करने की बाह्य ढाँचे की यह अक्षमता ही, ढाँचे के विघटन और उसके परिवर्तन की आवश्यकता उत्पन्न करती है। परन्तु यदि, इस जड़-तत्त्व को, व्यक्ति चेतना से इतनी पर्याप्त मात्रा में भर दे कि इसकी भी वही लय बनी रहे, यदि जड़-तत्त्व आन्तरिक प्रगति का अनुसरण करने के लिए पर्याप्त रूप से नमनीय बन सके तो सन्तुलन भंग नहीं होगा और फिर मृत्यु भी आवश्यक नहीं रहेगी।

इस प्रकार, श्रीअरविन्द हमें जैसा बताते हैं उसके अनुसार, प्रकृति ने इस अधिक उग्र साधन को इसलिए चुना कि भौतिक चेतना में आवश्यक अभीप्सा और नमनीयता जगायी जा सके।

यह स्पष्ट ही है कि जड़-तत्त्व की सबसे प्रमुख विशेषता है तमस्। और यह भी कि, यदि यह उग्र प्रयोग न होता तो शायद व्यक्ति-चेतना इतनी तामसिक होती कि वह किसी परिवर्तन की अपेक्षा अपूर्णता में ही निरन्तर

बने रहना स्वीकार कर लेती...। यह सम्भव है। कुछ भी हो, चीज़ें अब ऐसी ही हैं, और हमारे लिए, जो कुछ अधिक जानते हैं, बस, एक ही चीज़ करने को शेष रह जाती है और वह है, जहाँ तक हमें साधन उपलब्ध हैं, 'शक्ति' व 'चेतना' के, इस नयी 'शक्ति' के आवाहन द्वारा इस सबको बदल देना, इस 'शक्ति' के पास ऐसी सामर्थ्य है कि यह जड़-पदार्थ में उस प्रकार के स्पन्दन का सञ्चार कर सकती है जो इसका रूपान्तर कर दे, इसे नमनीय, कोमल और प्रगतिशील बना दे।

स्पष्ट ही इसमें सबसे बड़ी बाधा है वस्तुओं के वर्तमान स्वरूप के प्रति आसक्ति। और प्रकृति भी, समष्टि-रूप में, यह देखती है कि जिनके पास अधिक गहन ज्ञान है वे अधिक तेज़ी से बढ़ जाना चाहते हैं: उसे अपने घुमावदार रास्ते पसन्द हैं, उसे पसन्द है कि एक-के-बाद-एक प्रयत्न चलते रहें, विफलताएँ आयें, और फिर नया आरम्भ हो और नयी खोजें हों, उसे रास्ते का मनमौजीपन और अनुभवों में अप्रत्याशितता पसन्द है। हम लगभग कह सकते हैं कि इस सबमें जितना अधिक समय लगता है उतना ही उसका मनोरञ्जन होता है।

परन्तु बढ़िया-से-बढ़िया खेल से भी हम तंग आ जाते हैं। समय आता है जब हम उसके बदले जाने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। हम एक ऐसे खेल का स्वप्न ले सकते हैं जिसमें आगे बढ़ने के लिए कुछ भी नष्ट करना ज़रूरी न हो, जहाँ प्रगति करने का उत्साह इतना हो कि वह नये साधनों और नयी अभिव्यक्तियों को ढूँढ़ निकाले, जहाँ उमंग इतनी तीव्र हो कि वह तमस्, शिथिलता, दुर्बोधता, थकान और उदासीनता पर विजय पा ले।

भला यह शरीर, जैसे ही हम कुछ उन्नति कर लेते हैं, बैठ जाने की आवश्यकता क्यों अनुभव करता है? यह थक जाता है। कहता है: "ओह! ठहरो, मुझे थोड़ा विश्राम कर लेने दो।" यही चीज़ है जो इसे मृत्यु की ओर ले जाती है। यदि यह अपने में सदा ही और अधिक अच्छा करने, और अधिक पवित्र होने, और अधिक सुन्दर होने, और अधिक प्रकाशपूर्ण होने और चिरयुवा बने रहने का आवेश अनुभव कर सकता तो व्यक्ति 'प्रकृति' के इस विकराल परिहास से बच सकता।

उसके लिए इसका कुछ महत्त्व नहीं। वह सारी चीज़ को एक साथ

देखती है, समग्रता को देखती है। वह देखती है कि कुछ भी खोया नहीं गया है, यह तो महज़ मात्राओं का, अनगिनत छोटे-छोटे तत्त्वों का, जिनका कुछ महत्त्व नहीं, पुनर्मिश्रण-भर है। उन्हें वह बर्तन में फिर से डाल देती और अच्छी तरह मिलाती है और उनसे कुछ नयी चीज़ तैयार हो जाती है। पर यह खेल हर किसी के लिए मनोरञ्जक नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति अपनी चेतना में उतना ही विशाल बन सके जितना कि वह है और उससे भी अधिक शक्तिशाली बन जाये तो उसी चीज़ को वह और अधिक अच्छी तरह भला क्यों नहीं कर सकता?

यही समस्या है जो इस समय हमारे सामने है। यह जो नयी 'शक्ति' उतरी है, जो अपने-आपको मूर्तिमन्त करने में लगी है और कार्य-तत्पर है उसकी इस बढ़ी हुई सहायता से क्यों न हम खेल को अपने हाथ में लेकर इसे अधिक सुन्दर, अधिक सामञ्जस्यपूर्ण और अधिक सच्चा बना डालें?

यदि कुछ मस्तिष्क इतने समर्थ हों कि वे इस 'शक्ति' को ग्रहण कर सकें और इसकी सम्भवनीय क्रिया को आकार प्रदान कर सकें तो यह काफ़ी है। और कुछ बहुत ही प्रतापी व प्रबुद्ध सत्ताओं का होना भी ज़रूरी है जो 'प्रकृति' को यह विश्वास दिला सकें कि उसकी पद्धतियों से भिन्न दूसरी पद्धतियाँ भी हैं...। यह एक पागलपन-सा प्रतीत होता है। पर सभी नयी चीज़ें, सदा पागलपन ही प्रतीत होती रही हैं जब तक कि वे वास्तविकताएँ नहीं बन गयीं।

अब वह घड़ी आ गयी है कि यह पागलपन एक वास्तविकता का रूप ले। और चूँकि हम सब किन्हीं विशेष कारणों से—शायद हममें से बहुतों के लिए अज्ञात, फिर भी बहुत ही सचेतन कारणों से—यहाँ हैं, हम अपने अन्दर यह निश्चय ले सकते हैं कि हमें इस पागलपन को संसिद्ध करना है, कम-से-कम इसे जीने का परिश्रम भी सार्थक है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३८-४१

तब वह है क्या जिसे तुम मृत्यु कहते हो? क्या भगवान् मर सकते हैं? ओ मृत्यु से डरने वाले, यह जीवन ही तो है जो तुम्हारे पास मृत्यु का मुकुट सजाये आतंक का मुखौटा पहने आया है।

श्रीअरविन्द

मृत्यु का अर्थ

इस पृथ्वी पर समस्त जीवन के साथ मृत्यु एक तथ्य के रूप में लगायी गयी है, किन्तु प्रकृति ने इसे जिस मूल अर्थ में रखा था, मनुष्य इसे उससे भिन्न अर्थ में समझते हैं। मनुष्य और मनुष्य-तल के नज़दीक वाले पशुओं की चेतना में मृत्यु की आवश्यकता का एक विशिष्ट रूप और एक विशिष्ट अर्थ हो गया है। निम्नतर प्रकृति में जो अवचेतन ज्ञान है, जो इस अर्थ को आश्रय दिये हुए है वह है, फिर से नया होने की, परिवर्तन और रूपान्तर की आवश्यकता का अनुभव।

पृथ्वी पर जड़-तत्त्व की अवस्थाओं ने ही मृत्यु को अनिवार्य बनाया। जड़-तत्त्व के विकास का सारा अर्थ ही है, पहले की अचेतन अवस्था से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई चेतना में परिणत होना। और परिणत होने की इस प्रक्रिया में, जब यह सब यथार्थ में क्रियान्वित होने लगा तो आकारों का विनाश आवश्यक हो गया। कारण, संगठित व्यष्टिगत चेतना को स्थायी सहारा देने के लिए स्थिर रूप की आवश्यकता हुई। और वस्तुतः आकार की इस स्थिरता ने ही मृत्यु को अपरिहार्य बना दिया। क्योंकि जड़-तत्त्व को आकार धारण करने थे, क्योंकि आकार धारण किये बिना जीवन-शक्तियों अथवा चेतना की शक्तियों का व्यष्टीकरण तथा साकार-रूप असम्भव था, और इनके बिना पार्थिव भूमिका पर संगठित अस्तित्व के लिए प्रारम्भिक अवस्थाओं का अभाव होता। परन्तु आकार में बँधी साकार-रूप-रचना का यह स्वभाव है कि वह तुरन्त कठोर, अनम्य और पाषाणवत् बन जाने की ओर प्रवृत्त होती है। व्यक्तिगत आकार सब ओर से बाँध रखने वाले साँचे के रूप में स्थिर और क़ायम रहना चाहता है, वह शक्तियों की गतियों का अनुसरण नहीं कर सकता, विश्व-लीला की गतिशीलता में जो परिवर्तन होते रहते हैं उनके साथ सामञ्जस्य रख कर वह स्वयं को परिवर्तित नहीं कर सकता, प्रकृति की माँगों को वह लगातार पूरा नहीं कर सकता और वह उसके साथ-साथ नहीं चल सकता, वह प्रवाह के बाहर हो जाता है। आकार और उस पर दबाव डालने वाली शक्ति के बीच जो उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमानता और असामञ्जस्य है जब वह एक अमुक सीमा तक पहुँच जाता है तो आकार को पूर्ण रूप से नष्ट कर देना अनिवार्य हो जाता है।

तब एक नये आकार की सृष्टि करनी पड़ती है, एक नवीन सामञ्जस्य और समानता को सम्भावित करना पड़ता है। मृत्यु का सच्चा अर्थ यही है और प्रकृति में इसका यही उपयोग है। परन्तु आकार यदि अधिक फुर्तीला और नमनशील बन सके और शरीर के अणुओं को बदलती हुई चेतना के अनुसार जाग्रत् किया जा सके तो ऐसे उग्र विनाश की आवश्यकता नहीं होगी, मृत्यु अपरिहार्य नहीं रह जायेगी।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ४२-४३

मनुष्य की मनोमय और प्राणमय सत्ता तो वैश्व शक्तियों की गतियों का भरसक अनुसरण करती है और जगत् के आन्तरिक रूपान्तर तथा विकास की धारा उन्हें कुछ दूर तक आगे बढ़ा देती है; किन्तु शरीर, जो अत्यधिक जड़प्राकृतिक नियमों से बँधा हुआ होता है, बहुत ही सुस्त चाल से चलता है। कुछ वर्षों के बाद, सत्तर या अस्सी, सौ या दो सौ वर्षों बाद,... और यही शायद अधिक-से-अधिक अवधि है,—यह शृंखला-भंग इतना अधिक बढ़ जाता है कि बाह्य सत्ता टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। माँग और उत्तर में अन्तर होने के कारण तथा शरीर की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमर्थता और प्रत्युत्तर देने की अक्षमता के कारण मृत्यु की घटना आ उपस्थित होती है।...

यदि हमारी समग्र सत्ता ही, विश्व की आन्तरिक प्रगति के साथ-साथ क़दम मिलाती हुई, अपने प्रगतिशील रूपान्तर के कार्य में एक संग आगे बढ़ सके तो रोग होगा ही नहीं, मृत्यु होगी ही नहीं। परन्तु यह बात सोलहों आने पूरी और समग्र सत्ता में होनी चाहिये, उच्चतम स्तरों से लेकर—जहाँ यह अधिक नमनशील होती है और आवश्यक अनुपात में रूपान्तरकारिणी शक्तियों के अधीन हो जाती है—अत्यन्त जड़-प्राकृतिक स्तर तक—जो स्वभाव से ही कठोर है, निश्चल है, किसी भी द्रुत रूपान्तरकारी परिवर्तन का विरोध करता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ९८, १०१-०२

यह है 'मृत्यु' की आवश्यकता तथा उसकी न्यायसंगतता, यह 'जीवन' का खण्डन नहीं, बल्कि 'जीवन' की एक प्रक्रिया है। ***श्रीअरविन्द***

आश्रम का उद्देश्य

मानवजाति की वर्तमान उपलब्धियों में से कोई भी, चाहे वह कितनी भी महान् क्यों न हो, हमारे लिए अनुकरण करने-योग्य आदर्श नहीं बन सकती। मानव आदर्शों के परीक्षण-क्षेत्र के रूप में विशाल जगत् पड़ा है।

हमारा उद्देश्य बिलकुल भिन्न है और अगर अभी हमारी सफलता के अवसर बहुत कम हों फिर भी हमें विश्वास है कि हम भविष्य को तैयार करने के लिए काम कर रहे हैं।

मैं जानती हूँ कि बाह्य दृष्टिकोण से हम जगत् की बहुत-सी वर्तमान उपलब्धियों से नीचे हैं, परन्तु हमारा उद्देश्य मानव-मानदण्ड के अनुसार पूर्णता नहीं है। हम किसी और चीज़ के लिए प्रयास कर रहे हैं जो भविष्य की है।

आश्रम की स्थापना इसीलिए की गयी है और उसका उद्देश्य भी यही है कि वह नये जगत् का पालना बने।

ऊपर की प्रेरणा, ऊपर की पथ-प्रदर्शिका शक्ति और ऊपर की सर्जक शक्ति नयी उपलब्धि के अवतरण के लिए कार्यरत हैं।

केवल अपनी त्रुटियों, अपनी अपूर्णताओं और अपनी असफलताओं के नाते आश्रम वर्तमान जगत् का है।

मानवजाति की वर्तमान उपलब्धियों में से किसी में भी वह शक्ति नहीं है जो आश्रम को उसकी कठिनाइयों से बाहर निकाल सके।

आश्रम के सभी सदस्यों का पूर्ण परिवर्तन और अवतरित होते हुए 'सत्य' के 'प्रकाश' की ओर सर्वांगीण उद्घाटन ही उसे अपने-आपको चरितार्थ करने में सहायता दे सकते हैं।

निस्सन्देह, यह बहुत कठिन कार्य है, लेकिन हमें इसे पूरा करने की आज्ञा मिली है और हम धरती पर केवल इसी उद्देश्य से हैं।

हम परम प्रभु की 'इच्छा' और 'सहायता' में अडिग विश्वास के साथ अन्त तक चलते चलेंगे।

द्वार खुला हुआ है और उन सबके लिए हमेशा खुला रहेगा जो इस उद्देश्य के लिए अपना जीवन देने का निश्चय करें।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ११५-१६

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

दिसम्बर

१. यह कभी मत भूलो कि मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है, मेरी सहायता सदा तुम्हारे साथ है, मेरी शक्ति सदैव तुम्हारे साथ है।

२. सभी कठिनाइयों से पार करा कर मैं तुम्हें ज्योति, शान्ति और आनन्द की ओर ले जाऊँगी।

३. तुम्हें अपने अन्दर शान्त रहना होगा, यथासम्भव सारे भय को खदेड़ना होगा और मेरी शक्ति और सुरक्षा पर भरोसा करना होगा ताकि वे अपना काम पूरी तरह से कर सकें।

४. भगवान् के लिए अभीप्सा और प्रेम तुम्हारी सब कामनाओं और कठिनाइयों पर विजय पायें।

५. अपनी श्रद्धा और विश्वास को किसी भी चीज़ से डगमगाने न दो और तुम्हें पता चल जायेगा कि मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

६. मेरी भुजाओं में समायी रहो : वे सभी अप्रिय चीज़ों से तुम्हारी रक्षा करेंगी। मेरी सहायता के प्रति खुली रहो, वह तुम्हें कभी निराश नहीं करेगी।

७. मिथ्यात्व से पिण्ड छुड़ा लो तो दुःख-कष्ट से भी मुक्ति मिल जायेगी।

८. मिथ्यात्व और अविद्या के साथ अब और कोई सरोकार न रखो तो तुम्हारे अन्दर घृणा-भाव भी न रह जायेगा।
रह जायेगी केवल शाश्वत सत्य और प्रेम के प्रति निरन्तर बढ़ते रहने की शक्ति।

९. भरोसा रखो, पक्का भरोसा कि मेरा प्रेम, शक्ति, सुरक्षा, सहायता और आशीर्वाद निरन्तर तुम्हारे साथ हैं।

१०. भगवान् का स्मरण-चिन्तन शान्ति और मधुरता से भरे श्वेत कपोत की तरह है।
मेरा प्यार और आशीर्वाद तुम्हें घेरे हुए हैं।

११. अधीरता और बेचैनी से यथासम्भव बचो क्योंकि शान्ति और स्थिरता में ही भागवत कृपा की शक्तियाँ अपनी पूरी शक्ति से काम करती हैं।

१२. दिव्य जीवन बिताना किसी बाहरी क्रिया-कलाप या परिस्थिति पर निर्भर नहीं करता। यदि तुम सच्ची चेतना और उचित मनोवृत्ति बनाये रखो तो बड़े-से-बड़े काम से लेकर छोटे-से-छोटे काम तक तुम जो भी करो उसे करते हुए तुम दिव्य जीवन बिता सकती हो।

१३. ग़लत चिन्तन के घेरे से निकल आओ और तुम कष्टों से बाहर आ जाओगी।

१४. जो भगवान् की खोज में लगे हैं उन सबके लिए कठिनाइयाँ तो हैं ही। कोई भी सरल-सुगम मार्ग की आशा नहीं कर सकता। लेकिन **विजय सुनिश्चित है** और यह विश्वास डटे रहने का बल प्रदान करता है।

१५. कोई भी यह नहीं कह सकता कि "मेरे लिए अब कोई आशा नहीं है", क्योंकि **भागवत कृपा विद्यमान है**।

१६. **विश्वास** के सूर्य को अपने हृदय में प्रवेश करने दो और सब कुछ सरल-सहज हो जायेगा।

१७. जो भगवान् पर विश्वास रखता है वह शरीर से कहीं भी क्यों न हो, भगवान् की प्रेमभरी भुजाओं को कभी नहीं छोड़ता।

१८. प्रसन्नचित्त रहने के लिए हृदय को सदा कृतज्ञता से परिपूरित रखो। कृतज्ञता भगवान् की ओर ले जाने का सबसे निश्चित मार्ग है।

१९. बाहरी संवेदनों में इतनी लिप्त न रहो, अन्दर हृदय की गहराइयों में अपने को समेटो—शाश्वत की शान्ति वहाँ विराजमान है और वह तुम्हारी सहायता करेगी।

२०. सच्ची बनो, यह भगवान् की शान्ति की ओर ले जाने वाले पथ का पहला अनिवार्य पग है। सच्चाई है हमारा रक्षा-कवच।

२१. मुसीबतों से हताश न होओ। जीवन में जब भी कोई कुछ प्राप्त करना चाहता है, कठिनाइयाँ आती हैं। उन्हें तपस्या के रूप में लो जो तुम्हें सुदृढ़ बनाने आती हैं और तुम ज़्यादा आसानी से उन पर विजय पा लोगी।

मेरा प्यार, सहायता और आशीर्वाद सदैव तुम्हारे साथ हैं।

२२. सफलता पाने के लिए स्थिरता और अध्यवसाय अपरिहार्य हैं। लेकिन सबके लिए भागवत कृपा विद्यमान है, उनकी सहायता करती है जो श्रद्धा और विश्वास के साथ उसे पुकारते हैं।

२३. जब भी कभी तुम उद्विग्न या विक्षुब्ध होओ तो याद करो कि यह अहं है जो उद्विग्न या विक्षुब्ध होता है। उससे कहो, **"मैं तुम्हें नहीं चाहती, मेरे अन्दर से भाग जाओ, बाहर निकल जाओ।"**

२४. मुसीबतें और दुर्घटनाएँ परीक्षाएँ हैं, उन्हें भगवान् की कृपा के रूप में लेना चाहिये और तब वे वैसी ही बन जायेंगी और शीघ्रता के साथ तुम्हें तुम्हारे लक्ष्य की ओर ले जायेंगी।

२५. अपनी अस्वस्थता के लिए भागवत शान्ति को नीचे उतारने के प्रयास को मत भूलो—क्योंकि भगवान् की शान्ति का विरोध कोई बीमारी नहीं कर सकती। केवल स्मरण और प्रयास भी तुम्हें कुछ राहत देंगे।

२६. मैं समझ सकती हूँ कि जीवन दूभर है, लेकिन भगवान् की शक्ति भी अनन्त है और जो सच्चे हृदय से इसके लिए प्रार्थना करते हैं उन्हें यह हमेशा उपलब्ध है।

२७. हमेशा यथासम्भव अच्छे-से-अच्छा करो और परिणाम भगवान् पर छोड़ दो।

तब तुम्हारा हृदय शान्ति से रह सकेगा।

२८. थकान आन्तरिक तनाव और बेचैनी से आती है, शारीरिक काम करने से नहीं। यदि हम अपने मन और प्राण में शान्त रह सकें तो हम कभी नहीं थकते।

२९. सब कठिनाइयों से उबरने का एक ही रास्ता है, और वह है बहुत सुनिश्चित। अपनी **श्रद्धा** को अविकल और जीवन्त बनाये रखो, एक चमकती लौ की तरह।

३०. मुसीबतें हमें यह सबक सिखाने आती हैं कि चाहे कुछ भी हो जाये, हम न केवल शान्त बने रहें बल्कि प्रसन्न भी।

३१. पथ किसी के लिए भी आसान नहीं है। लेकिन सच्चे दिल से भगवान् से कहो, "तेरी इच्छा पूर्ण हो" और फिर धीरज धरो। हमारे कर सकने-लायक यही सबसे अच्छा कार्य है।

—'सफेद गुलाब' (हुता की पुस्तक) से

जप कैसे किया जाये

"श्रीअरविन्दः शरणं मम, ॐ, ॐ, ॐ।"

"श्रीअरविन्दः शरणं मम, ॐ, ॐ, ॐ।"

"सब विघ्न-बाधाओं पर विजय पाने वाले प्रभो, तेरी जय हो।"

आध्यात्मिक प्रगति के लिए कई आध्यात्मिक पथों में जप पर बहुत ज़्यादा ज़ोर दिया जाता है। जप का अर्थ है, किसी नाम या किन्हीं अक्षरों या कुछ मन्त्रों को चेतना की अमुक स्थिति में बार-बार दोहराना ताकि उस मन्त्र या नाम का प्रतिनिधित्व करने वाली शक्ति या देवता के साथ तुम्हारा सम्पर्क हो जाये। अगर तुम्हारा सम्पर्क जल्दी हो जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि तुमने अपने जप में जल्दी ही प्रगति कर ली है। तो अब प्रश्न यह है कि उस चेतना के साथ कैसे सम्पर्क किया जाये जिसका प्रतिनिधित्व वह मन्त्र करता है?

हम कुछ उदाहरण लें। पहला उदाहरण है, ओम् का। ओम् आदि स्वर, स्वयं भगवान् के अन्दर स्पन्दन है। भगवान् स्पन्दनों से भरे हैं। भगवान् का एक पक्ष स्थावर है और दूसरा जंगम जो स्पन्दनों से भरा है। जब आदि स्पन्दन **खुलता है** तो उससे ओ की ध्वनि होती है और जब वह **बन्द होता है** तो म् की आवाज़ होती है। इस तरह खुलने-बन्द होने से **ओम्** की ध्वनि आती है।

हमें इस स्पन्दन से नाता जोड़ने की कोशिश करनी चाहिये और ॐ की ध्वनि को भौतिक स्तर पर लाना चाहिये। इसका अर्थ होगा कि हम भौतिक स्तर पर उच्चतर चेतना के अवतरण के वाहक बन जायें। इसे करने के लिए हमें पहले सुनहरे या श्वेत प्रकाश पर ध्यान लगाना होगा जो स्थिर है और उससे हम अपने शरीर को भर लें, फिर हम अपने श्वास को उससे भर लें, मानों हम उसी प्रकाश को अन्दर ले रहे और बाहर छोड़ रहे हैं।

उचित रूप से जप करने के लिए हमें तीव्र क्रियाशील ध्यान से आरम्भ

करना होगा। जब हम इस प्रकाश का अपने सारे शरीर के कोषाणुओं में आह्वान करें और अपने-आपको प्रकाश का खण्ड बना लें तो हमें यह लगता है कि हम ॐ की ध्वनि नहीं कर रहे बल्कि हमारा सारा शरीर ॐ की ध्वनि कर रहा है। और हम यह अनुभव भी करते हैं कि स्वयं भगवान् हमारे शरीर द्वारा ॐ की ध्वनि कर रहे और हमारे चारों ओर का अन्धकार हटा रहे हैं। इस भावना से ॐ का जाप करना और बार-बार करना चाहिये।

दूसरा तरीक़ा होगा उस तरह से पुकारना जैसे हम किसी व्यक्ति को बुलाते हैं। मैं किसी को बुलाता हूँ 'गोविन्द' उसी तरह बुलाता हूँ 'ॐ'। बुलाने का तरीक़ा जितना सच्चा और एकाग्र होगा उतना ही अच्छा परिणाम आयेगा। दोनों अपने-अपने ढंग से प्रभावशाली हैं।

दूसरा है नाम-जप। हम श्रीअरविन्द का नाम, कृष्ण का या ईसा का नाम जप सकते हैं, जैसी हमारी रुचि हो—भगवान् एक हैं। यहाँ महत्त्व ध्वनि का नहीं, एकाग्रता का है। ध्वनि भी महत्त्वपूर्ण तो है पर ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है एकाग्रता। जब हम कहते हैं, *'श्रीअरविन्दः शरणं मम'* तो हमको ऐसा अनुभव करना चाहिये, इतना एकाग्र रहना चाहिये मानों हम श्रीअरविन्द की चेतना के अन्दर हैं। *'शरणम्'* कहते समय हमें अनुभव करना चाहिये कि अपनी सारी सत्ता—मन, प्राण और शरीर—को हम श्रीअरविन्द की भेंट कर रहे हैं और उनके अन्दर मिलते जा रहे हैं ताकि उनकी शक्ति हमारे द्वारा काम कर सके। अन्यथा *'शरणं मम'* का कोई महत्त्व नहीं रहता।... अगर हम *'श्रीअरविन्दः शरणं मम'* का जाप करें तो हम उनकी चेतना के साथ एक होते हैं। अगर अधिकाधिक लोग उनके साथ एक होते हैं तो वे प्रकाश फैलाने वाले केन्द्र बन जायेंगे। तो हम जिस किसी चेतना को बुलाना चाहें, *"शरणं मम"* एक बहुत शक्तिशाली मन्त्र होता है।

दूसरा जप तब होगा जब हम किसी विशेष नाम को लें। ॐ निराकार की ध्वनि है, परन्तु भगवान् साकार भी हैं और सगुण भी। जब हम श्रीअरविन्द, श्रीकृष्ण या श्रीराम को याद करें तो ध्यान उनके साथ ऐक्य में होना चाहिये और *'शरणं मम'* कहते समय हमको उनका अनुभव करना चाहिये क्योंकि मन्त्र को मनन से शक्ति मिलती है, जिसे 'मनन-मन्त्र' कहते हैं। जप हमारे अन्दर उनकी चेतना का आह्वान करता है। तो यह एक

और तरह का मन्त्र है जिसके लिए हम जप करते हैं। यहाँ व्यक्तिगत चेतना उच्चतर चेतना के साथ एक हो जाती है और जब हम 'उन' के साथ एक हो जायें तो श्रीअरविन्द की शक्तियाँ, उनकी क्षमताएँ हमारे अन्दर आ जाती हैं।

एक और शक्तिशाली मन्त्र है : *'ॐ नमो भगवते श्रीअरविन्दाय'*।

तीसरा है गायत्री-जैसा मन्त्र जिसका शताब्दियों से भारत में चलन है और शायद यह सबसे अधिक लोकप्रिय भी है। शायद जो मन्त्र जपे जाते हैं उनमें आधे से अधिक तो गायत्री ही होते हैं। बाक़ी सबको मिला कर देखा जाये तो वे आधे से कम ही होंगे। गायत्री मन्त्र मुख्य रूप से ध्यान करने का मन्त्र है। तो अगर हम प्रकाश पर ध्यान न लगायें तो मन्त्र प्रभावशाली कैसे होगा? मन्त्र ध्यान की शक्ति बढ़ाता है। तो तीसरा है, गायत्री मन्त्र।

और भी बहुत-से मन्त्र हैं—स्वास्थ्य के लिए मन्त्र, शक्ति, ज्ञान, यहाँ तक कि चोरी चली गयी वस्तुओं की पुनःप्राप्ति के लिए भी मन्त्र होते हैं। ये सभी ध्यान के लिए मन्त्र हैं। हमें गहरे ध्यान में जाकर इन्हें जपना चाहिये।

एक और तरह के मन्त्र होते हैं, 'ध्वनि-मन्त्र' जिनमें स्वयं ध्वनि के अन्दर शक्ति होती है। ध्वनि शक्ति पा लेती है अगर गुरु उसे दें। अगर हम उसे एक पुस्तक से सीख लें तो उसमें शक्ति हो सकती है पर उतनी नहीं जितनी गुरु से पाने पर होती है। गुरु उस मन्त्र के पीछे की शक्ति से हमारा सम्पर्क करा देते हैं। बहुत अधिक प्रबल ध्वनि-मन्त्रों में से कुछ हैं 'ॐ, क्रीं, क्लीं, श्रीं, क्रं, क्रीं'। फिर इनके उपविभाग होते हैं। संस्कृत में अक्षर भी मन्त्र होता है, कुं, खुं, गुं, घुं, चुं, छुं, जुं, झुं आदि बहुत प्रभावशाली और प्रबल मन्त्र हैं।

एक मन्त्र का भली-भाँति अभ्यास किया जाये तो औरों का अभ्यास करना आसान हो जाता है। अगर हम एक मन्त्र में सिद्धि पा लें तो हमारे लिए अन्य मन्त्र जल्दी प्रभावशाली हो जायेंगे। अतः, मन्त्र-जप में महत्त्वपूर्ण यह है कि हम पहले अपना मन्त्र चुन लें फिर अपना ध्यान चुनें और फिर बतलाये गये तरीक़े से ध्यान करें।

प्राचीन मन्त्रों के लिए कहा जाता था कि अगर जप करते समय मन भटक जाये तो उसे बार-बार दोहराइये, तीन सौ बार दोहराइये। इस पर भी मन भटक जाये तो फिर बैठ कर दोहराइये। यह इतना कठोर नियन्त्रण था कि आप अपने अन्दर प्रार्थना करने लगते हैं कि

"हे भगवन्, मेरे मन को भटकने न दीजिये, नहीं तो मुझे आठ घण्टों तक बैठना पड़ेगा जो मेरे बस का नहीं है!"

जप करने के अनेक तरीक़े हैं। अभी तक मैंने ऐसे जप की बात की है जिसमें उच्चारण किये हुए मन्त्र का जप किया जाता है। जप केवल मानसिक आवृत्ति या चाक्षुष दर्शन के द्वारा भी किया जाता है। तुम मन्त्र को मानों प्रकाश में लिख लो और देखो। तुमको अनुभव होगा कि मन्त्र स्वयं देवता है, तुम उसे मन में दोहराओ या फिर दोनों तरह से करो। तीसरा तरीक़ा है, मन्त्र को दोहराये बिना उसे 'सुनना', मानों मन्त्र तुम्हारे चारों ओर स्पन्दित हो रहा है, वह तुम्हारे शरीर के एक-एक अणु में 'ॐ, ॐ' को स्पन्दित कर रहा है।

यदि तुम्हें मन्त्र दोहराने से ही शुरू करना पड़े, यह कभी तो करना ही पड़ता है, या जब तुम्हें ध्वनि सुननी पड़े, मानों वह तुम्हारे अन्दर या चारों ओर स्पन्दित हो रहा है, तो कुछ समय के बाद तुमको यह देख कर आश्चर्य होगा कि वह सचमुच स्पन्दित होना शुरू करता है। अगर तुम अपने शरीर के अणुओं को जगाना चाहते हो तो एक बहुत अच्छा तरीक़ा है कि उन्हें 'ॐ, ॐ' का उच्चारण करने दो और फिर तुम देखोगे कि क्या होता है।
(क्रमशः) —नवजातजी

स्वर्ग का प्रमाण

मृत्यु की दहलीज़ पर पहुँच कर कितने ही वापस आये हैं ऐसी कई घटनाएँ और कहानियाँ हम इधर-उधर सुनते-पढ़ते हैं और आश्चर्य में डूब जाते हैं! ऐसी एक बहुत ही प्रसिद्ध किताब है—Proof of Heaven —जिसके लेखक हैं, न्यूरोसर्जन Eben Alexander —१७५ पृष्ठों की यह पुस्तक एबन महोदय की ही अनुभूतियों का ख़ज़ाना है, जो उस पार पहुँच कर वापस इस पार लौट आये थे...। उसी किताब के इधर-उधर के कुछ अंशों का अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है; हो सकता है कि हम अपने आगामी अंकों में भी इस पुस्तक की सामग्री बीच-बीच में देते रहें।—सं.

पुस्तक का सारांश निम्नांकित शब्दों में देखिये—

हज़ारों लोगों ने मृत्यु का अनुभव किया है, लेकिन वैज्ञानिकों के तर्क के अनुसार मृत्यु में प्रवेश कर जीवन में लौट आना असम्भव है। डॉ. एबन एलैग्ज़ैंडर पूरी तरह से इसी मत के वैज्ञानिक थे। उनका मानना था कि जब दिमाग़ बहुत ही अधिक तनाव में होता है तब व्यक्ति ऐसी कल्पनाएँ करने लगता है कि वह मृत्यु के कगार पर है और वह ऐसा महसूस भी करने लगता है, लेकिन सचमुच वह इसी पार रहता है।

और फिर डॉ. एलैग्ज़ैंडर ख़ुद एक विरल बीमारी के शिकार हो गये। सीधा असर दिमाग़ पर पड़ा! दिमाग़ का वह हिस्सा, जो विचारों और भावनाओं पर नियन्त्रण रखता है—सारतः जो मानव को मानव-रूप देता है—पूरी तरह से बन्द हो गया। आठ दिनों तक वे 'कोमा' में रहे। और जब जौ-भर भी उनके ठीक होने के आसार नहीं दीखे और चिकित्सकों ने हथियार डाल दिये, तभी एबन की आँखें खुल गयीं। वे मौत के दरवाज़े में प्रवेश कर, निकल आये थे!

एलैग्ज़ैंडर का ठीक होना चिकित्सा-जगत् का एक चमत्कार था। लेकिन उनकी कहानी का सच्चा चमत्कार तो कहीं और छिपा है। उन्होंने इस जगत् के परे के जगतों में सैर की और एक देवदूत उनके साथ थे जिन्होंने अति-भौतिक जगत् के क्षेत्रों में उन्हें यात्रा करायी। वहाँ वे स्वयं विश्व के 'भागवत' स्रोत से मिले, उनसे उन्होंने बातचीत की।

एलैग्ज़ैंडर की कहानी कोई कपोल-कल्पना नहीं है। 'परे' की अपनी इस यात्रा के पहले, न्यूरोसाइंस के अपने ज्ञान के आधार पर रत्ती-भर भी उन्हें स्वर्ग, ईश्वर या अन्तरात्मा पर विश्वास नहीं था। आज ये ऐसे चिकित्सक हैं जिनका यह दृढ़ विश्वास है कि सच्चा स्वास्थ्य केवल तभी पाया जा सकता है जब हमें यह अनुभूति हो जाये कि ईश्वर तथा अन्तरात्मा सत्य हैं और यह कि मृत्यु व्यक्तिगत अस्तित्व का अन्त नहीं बल्कि मात्र संक्रान्ति-काल, एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थानान्तरण है।...

पुस्तक की भूमिका में एबेन लिखते हैं—

... आज मैं एक न्यूरोसर्जन हूँ।

वैसे बचपन में मैं अपने सपनों में उड़ा-ही-उड़ा करता था। अपने बग़ीचे में मैं आकाश को निहारा करता, सितारों पर टकटकी बाँधे खड़ा रहता

और अपने विचारों में उड़ जाता उनकी ओर। शायद यही वजह थी कि मैं हवाई-जहाज़ों और रॉकेट के प्रेमपाश में बँध गया, छुटपन से ही मैं इस पृथ्वी से ऊपर, नील गगन में उड़ना, तैरना चाहता था और उस समय मेरा कमरा छोटे-बड़े, हर आकार-प्रकार के खिलौनों—हवाई-जहाज़ों-जैसी चीज़ों से ही भरा रहता था, क्योंकि अपने कल्पना-लोक में मैं किसी-न-किसी पर चढ़ कर रोज़ आकाश की सैर को निकलता था, अपना सारा जेबख़र्च इन्हीं चीज़ों पर निछावर करने में ग़ज़ब का सुकून पाता था।

किशोरावस्था में मैं 'पैराशूटिंग' और 'स्काईडाइविंग' टीम में भी भरती हुआ। मैंने उड़ानें भी भरीं, अपने सपने को कुछ हद तक साकार भी किया, लेकिन बड़े होकर मैं बन गया एक न्यूरोसर्जन...!

संक्षेप में, मैंने अपने-आपको विज्ञान को समर्पित कर दिया। आधुनिक चिकित्सा के तहत न जाने कितने ही सफल ऑपरेशन किये। कितनों को नया जीवन प्रदान किया। मानव-शरीर और मानव-मस्तिष्क को बूझना-समझना-परखना ही मेरे जीवन की लगन बन गयी, मैं अपने-आपको बहुत भाग्यशाली समझता था कि मुझे ज़िन्दगी में दूसरों को ज़िन्दगी देने का मौक़ा मिला; और सबसे बढ़ कर, मेरी ज़िन्दगी को पूरी तरह से ख़ुशनुमा और ख़ूबसूरत बना दिया था मेरी पत्नी और मेरे दो नयनतारे, प्यारे-प्यारे बच्चों ने। वैसे दोस्तों के बीच तो मेरे बारे में यही मज़ाक चलता था कि भई, इसने तो अपने काम से ब्याह कर लिया है... हाँ, काम मेरा जीवन था, लेकिन अपने परिवार के प्रति भी मैं उतना ही समर्पित था। मैं बहुत ही सौभाग्यशाली हूँ—यह बात मैं अच्छी तरह जानता था।

लेकिन... १० नवम्बर २००८ को, ५८ वर्ष की उम्र में, मेरा भाग्य मुझसे रूठ गया—मैं एक बहुत ही विरल बीमारी की लपेट में आ गया और आठ दिनों तक 'कोमा' में पड़ा रहा। उस दौरान मेरे मस्तिष्क का बाहरी हिस्सा—वह हिस्सा जो हमें मानव बनाता है—बन्द हो गया, निष्क्रिय पड़ गया, मानों ग़ायब हो गया।

जब तुम्हारा मस्तिष्क अनुपस्थित हो तो तुम भी अनुपस्थित होते हो। न्यूरोसर्जन होने की वजह से मैंने कई लोगों की ऐसी ज़ुबानियाँ सुनी थीं कि उनके दिल की धड़कन रुकने के बाद वे न जाने किन-किन अति सुन्दर, गुह्य स्थानों पर गये, अपने मृत रिश्तेदारों से उन्होंने बातचीत की—यहाँ

तक कि भगवान् से भी उनकी भेंट हुई!

बेशक ये अद्‌भुत बातें होंगी...। लेकिन मेरे मत के अनुसार शुद्ध कपोल-कल्पनाएँ थीं। क्योंकि अगर तुम्हारा मस्तिष्क कार्यरत नहीं है तो तुम सचेतन नहीं हो सकते। सीधी-सरल सी बात है कि तुम दूरदर्शन का 'प्लग' निकाल दो तो वह फटाक् से बन्द हो जायेगा, भले वह तुम्हारा कितना भी मनोरञ्जन क्यों न कर रहा हो। ठीक उसी तरह चेतना शरीर से निकली नहीं, यानी 'प्लग' निकला नहीं कि सारा खेल ख़तम।

यह सब मैं उसके पहले तक कह सकता था जब तक मेरा ख़ुद का मस्तिष्क धराशायी नहीं हुआ था।

यह नहीं कि 'कोमा' के समय मेरा मस्तिष्क अनुचित तरीक़े से चल रहा था—वह **एकदम नहीं** चल रहा था। मैं अपने भौतिक मस्तिष्क की सीमाओं से परे के एक ऐसे द्वार पर खड़ा था मानों मैं जीवन को लाँघ चुका होऊँ, क्या वह मृत्यु का प्रवेश-द्वार था? उस समय घट रही वे घटनाएँ मेरी व्याख्या से एकदम परे हैं। मेरी अनुभूति ने मुझे दिखला दिया कि शरीर और मस्तिष्क की मृत्यु चेतना का अन्त नहीं है, कि मानव-अनुभूतियाँ उसकी क़ब्र के साथ-साथ ख़तम नहीं हो जातीं, वह वहाँ से जीवन में लौट भी सकता है...। और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह कि तब हम उन प्रभु की नज़रों के नीचे रहते हैं, वे हममें से हर एक की परवाह करते हैं, सारे विश्व के जड़-जंगम को सहारा देते हैं।

अब मैं अपनी कहानी शुरू करता हूँ—

१० नवम्बर २००८—अचानक मेरी आँख खुल गयी, बाहर घटाटोप अँधेरा छाया हुआ था—बिस्तर के पास रखी घड़ी देखी, सवेरे के साढ़े चार बजे थे—सामान्य समय से घण्टा-भर पहले उठ गया था मैं, देखा कि मेरी पत्नी हॉली गहरी नींद में थी। उसके पहले की शाम मेरी पीठ में दर्द हो रहा था, नहा-धोकर कुछ राहत महसूस हुई थी... उठने के लिए सरका नहीं कि रीढ़ की हड्डी में दर्द की बिजली लहरा उठी, किसी तरह उठा, सोचा, गरम पानी से नहा लूँ तो आराम मिलेगा। धीमे-धीमे क़दमों से नीचे पहुँचा, पानी के टब में बैठ गया, गरम पानी टब में भर रहा था, मुझे विश्वास था कि अब मैं चैन की साँस ले पाऊँगा, लेकिन नहीं, मेरा

विश्वास एकदम से ग़लत था, आधा टब भरते-न-भरते मेरा दर्द असह्य हो उठा, तौलिया उठाना, टब से निकलना... ये सारी चीज़ें मेरे लिए पहाड़ पर चढ़ने-जैसी बन गयीं, आख़िर मुझे पत्नी को आवाज़ देनी ही पड़ी... उसके बाद जो हुआ वह आठ दिन 'कोमा' में डूब जाने की भूमिका थी।

कुछ ही घण्टों में मेरा शरीर चल बसने की देहली पर खड़ा था।

मेनिंजाइटिस के प्रबल प्रहार का मैं शिकार बन चुका था। मेरी रीढ़ की हड्डी मवाद की नाली बन चुकी थी, पानी से निकली मछली की तरह मैं तड़फड़ा रहा था... मुझे अपने अन्तिम चार शब्द ही सुनायी दिये—भगवान्, मेरी रक्षा करना...।

मैं अँधेरे के क़ब्रिस्तान में पहुँच गया था—अन्धकार—लेकिन दृश्य अन्धकार, मानों मैं कीचड़ में डूब चुका था, लेकिन मेरी आँखें खुली थीं और अन्दर की कुलबुलाती चीज़ें और प्राणी पारदर्शक बन गये थे।

चेतना—लेकिन बिना स्मृति और बिना पहचान की चेतना—मानों ऐसा सपना था जहाँ तुम्हें पता हो कि तुम्हारे चारों तरफ़ क्या चल रहा है, लेकिन इसका ज़रा भी अन्दाज़ न हो कि **तुम** कौन हो, क्या हो।

ध्वनि थी—लेकिन ऐसी मानों हो दूर, लेकिन तुम्हारी हर धड़कन के साथ तुम पर लुहार के हथौड़े बरसा रही हो। न जाने कैसी-कैसी अजीबोग़रीब चीज़ें घट रही थीं उस घुप् लेकिन दृश्य अँधेरे में—न जाने कितने ही जीव कुलबुला रहे थे उस कीचड़ में; जितना मैं उसमें डूब रहा था उतना ही मैं भी कुलबुला रहा था, लेकिन फिर धीरे-धीरे मेरे अन्दर से दिशा और काल का भाव एकदम से ग़ायब हो गया, वह अन्धकार, वह बीभत्सता, वह पाताल-लोक सब टूट पड़ा मेरे ऊपर, मैं वहाँ से छिटक कर निकलना चाहता था, लेकिन कहाँ जाऊँगा मैं? इस प्रश्न के उभरते ही उस अन्धकार के ऊपर से कुछ उतरा, कुछ ऐसा जो ठण्डा, मृत या अन्धकारमय नहीं, बल्कि ठीक इससे उलटा ही था, मैं समझा नहीं सकता कि वह सचमुच कितना सुन्दर था, शब्द ओछे पड़ जायेंगे।

फिर भी मैं कोशिश करूँगा...

उस अन्धकार में प्रकाश कौंधा। प्रकाश का वह गोला धीरे-धीरे घूम रहा था, उससे छटकते श्वेत-स्वर्ण प्रकाश के रेशों ने अन्धकार को चीरना शुरू किया और मेरे चारों तरफ़ का अँधेरा टूट-टूट कर बिखरने लगा।

मैं प्रकाश में नहा उठा।

फिर मैंने एक आवाज़ सुनी : एक *जीवन्त* ध्वनि; संगीत की समृद्धतम, जटिलतम, मधुरतम, अश्रुतपूर्व ध्वनि। यह संगीत अपनी गभीरता में जैसे-जैसे ऊपर उठता जा रहा था, वैसे-वैसे एक शुभ्र-श्वेत-पवित्र प्रकाश नीचे उतरता आ रहा था। गोल-गोल घूमता हुआ प्रकाश का वह गोला मेरे निकट, निकटतर आता गया, उससे छिटक रही थीं सफ़ेद-सुनहरी किरणें। फिर, प्रकाश के ठीक बीचोबीच कुछ और प्रकट हुआ। मैंने अपनी चेतना उस पर जमायी, मैं जानना चाहता था कि वह है क्या?

और हुआ उद्घाटन... मैं प्रकाश के उस घेरे *को* नहीं देख रहा था बल्कि उसके *उस पार* देख रहा था। जिस क्षण मेरी समझ में यह बात आयी नहीं कि मैं ऊपर उठने लगा। सर्र ऽऽऽऽ की आवाज़ हुई और एक चमक में... लो... मैं उस उद्घाटन के उस पार निकल गया! मैंने अपने-आपको एकदम से नवीन जगत् में पाया—एकदम से अजूबे, सुन्दरता की खान के ऐसे जगत् में जिसकी झलक तक मैंने कभी नहीं पायी थी...

चमकदार, स्पन्दनशील, अत्यानन्दपूर्ण, तेजस्वी... यह लोक कैसा दीखता था, मैं वहाँ कैसा अनुभव कर रहा था यह बताने के लिए मैं एक के बाद एक विशेषणों का पहाड़ खड़ा कर सकता हूँ, लेकिन उस लावण्य के सामने वे सभी विशेषण एकदम नाटे लगेंगे। मुझे महसूस हुआ कि मेरा जन्म हो रहा है, पुनर्जन्म नहीं, या दोबारा जन्म नहीं। बस... जन्म।

मेरे नीचे देहात फैला हुआ था, सुजला-सुफला-शस्यश्यामला धरती। हाँ वह धरती *थी*... लेकिन साथ ही वह धरती नहीं भी थी। ऐसा था मानों जब तुम्हारे माता-पिता तुम्हें ऐसी जगह ले जाते हैं जहाँ तुमने अपने एकदम बचपन के कुछ साल बिताये हों। तुम उस जगह को नहीं जानते। या तुम सोचते हो कि तुम नहीं जानते। लेकिन जब तुम वहाँ चारों तरफ़ नज़र घुमाते हो तो कोई चीज़ तुम्हें खींचती है, और तुम्हें भान होता है कि तुम्हारा एक हिस्सा—तुम्हारे अन्दर की गहराई का एक हिस्सा—आख़िर उस स्थान को पहचानता है, और उस स्थान पर लौट कर आने में आनन्द मना रहा है।

मैं उड़ रहा था—पेड़ों और खेतों, नदी-नालों और झरनों के ऊपर से गुज़रता हुआ मैं उड़ा चला जा रहा था, वहाँ स्त्री और पुरुष थे,

खिलखिलाते-खेलते प्यारे-प्यारे बच्चे थे। गोल चक्करों में लोग-बाग नाच रहे थे, गा रहे थे, कभी-कभी उन लोगों के बीच, ख़ुशी से कूदता-फाँदता कोई कुत्ता भी मेरी नज़र में आ जाता। उनका पहनावा सादा था, लेकिन था बहुत ही सुन्दर, और मुझे ऐसा लगा कि उनके कपड़ों में वही जीवन्त ऊष्मा थी जो वहाँ देहात में उनके चारों तरफ़ लगे वृक्षों और खिल रहे फूलों में चमक रही थी।

सौन्दर्य और आश्चर्य का स्वप्न-लोक था वह...

केवल इतना ही कि वह स्वप्न नहीं था। हालाँकि मुझे पता नहीं था कि मैं कहाँ हूँ या *क्या* हूँ, लेकिन मैं, एक चीज़ के बारे में मुझे पूरा-पक्का यकीन था कि जिस जगह पर मैं अचानक पहुँच गया हूँ वह पूरी-पक्की ठोस, सच्ची जगह है।

सच्चा शब्द वस्तुतः किसी अमूर्त या निराकार चीज़ को अभिव्यक्त करता है और मैं जिस सुन्दरता का वर्णन करने की कोशिश कर रहा हूँ उसके लिए मेरे पास असरहीन शब्दों का भण्डार है, वे मेरी बात समझा ही नहीं सकते... सोचो कि तुम बच्चे बन गये हो और एक सुहावने दिन कोई पिक्चर देखने तुम सिनेमा-हॉल में गये। शायद सिनेमा बढ़िया हो, तुम्हारा मनोरञ्जन भी हुआ हो, और फ़िल्म ख़तम होने के बाद जब तुम उस सुहावने-सुनहरे उजाले में बाहर आ जाओ और जब ऊष्मा और पवन के झोंको से इठलाता वह वातावरण तुम्हारा स्पर्श करे तब तुम ख़ुद से सवाल करते हो—'इस भव्य दिवस को मैंने सिनेमा-हॉल के घनघोर अँधेरे और उमस में क्यों बिताया भला?' इसको हज़ार गुना बढ़ा दो, फिर भी वहाँ मुझे जो अनुभूति हो रही थी उसका हज़ारवाँ हिस्सा भी किसी के पल्ले न पड़ेगा!

मुझे मालूम नहीं कि मैं ठीक-ठीक कितनी देर या कितनी दूर तक उड़ता चला गया, क्योंकि वह जगह ही ऐसी थी कि वहाँ की दूसरी बातों की तरह देश और काल को समझाना भी सम्भव न था। लेकिन कुछ समय बाद मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि वहाँ ऊपर मैं अकेला नहीं था।

कोई मेरे एकदम क़रीब था: नीली आँखोंवाली एक सुन्दर किशोरी। उसका लिबास वैसा ही था जैसा नीचे देहातवालों का था। लहराते-सुनहले बाल उसके चेहरे पर चार चाँद लगा रहे थे। हम एक साथ अन्तरिक्ष में

(अपनी भाषा में समझाने के लिए उसे मैं अन्तरिक्ष कह रहा हूँ) सुन्दर-सुन्दर कलाबाज़ियाँ-सी करते उड़े जा रहे थे—हमारे चारों तरफ़ जीवन्त-विविध रंगों का इन्द्रजाल फैला हुआ था—तितली का बड़ा-सा पंख... सचमुच हज़ारों-लाखों तितलियाँ हमारे चारों तरफ़ थीं—मानों सुन्दर-चमकीले रंगों की विराट् लहरें हों जो कभी नीचे देहात की हरियाली की तरफ़ जातीं तो कभी उमड़ कर हमारे पास आ जातीं। रंगों की इस बहती नदी में हम आकण्ठ डूबे हुए थे। जैसे-जैसे हम फूलों की क्यारियों इत्यादि के पास से गुज़रते, कलियाँ खिल उठतीं, फूल चमक उठते।

लड़की की पोशाक सामान्य थी, लेकिन उसके रंग ऐसे सोफ़ियाना थे —हलके नीले, गुलाबी, नारंगी, बैंगनी, पीले इत्यादि रंगों की विविध छटाएँ उस पर बिखरी हुई थीं और आस-पास की चीज़ों की तरह वे रंग भी जीवन्त हो चले थे। उसने मुझे ऐसी नज़र से निहारा कि मुझे लगा कि अब तक जिया हुआ मेरा जीवन सार्थक हो गया। मैत्री की दृष्टि न थी वह। वह ऐसी दृष्टि थी जो इन सब चीज़ों से परे थी... हमारी धरती पर जितनी तरह के प्रेम पाये जाते हैं उन सबसे परे वह कोई उच्चतर वस्तु थी जो अपने अन्दर हर तरह के प्रेम को रखते हुए भी इन सबके ऊपर, सबसे अधिक शुद्ध थी।

बिना किसी शब्द का उपयोग किये उसने मुझसे बातचीत की। उसका सन्देश मेरे अन्दर हवा के सुखद झोंके की तरह गया और मैं तुरन्त समझ गया कि उसने मुझसे जो कहा वह सच था। जिस तरह मैं यह समझ गया था कि मेरे चारों तरफ़ का जगत् भी सच्चा है—कोई कपोल-कल्पना, गुज़रता हुआ अथवा सारहीन जगत् नहीं है।

उसके सन्देश में तीन भाग थे, और अगर मुझे उसे पृथ्वी की भाषा में अनूदित करना हो तो वह कुछ इस प्रकार होगा:

"हमेशा तुमसे प्रेम किया गया है, हमेशा तुम आँखों की पुतली रहे हो।"
"तुम्हें किसी भी चीज़ से डरना नहीं चाहिये।"
"तुम कोई भी ग़लत काम नहीं कर सकते।"

इस सन्देश ने मेरे अन्दर विशाल और अजीबोग़रीब राहत के स्पन्दन फैला दिये। मानों उसने मेरे हाथों में उस खेल के नियम थमा दिये जिसे

मैं पूरी तरह समझे बिना आज तक खेले जा रहा था।

"हम तुम्हें यहाँ बहुत सारी चीज़ें दिखलायेंगे," किशोरी ने कहा—हाँ, फिर से उसने किन्हीं भी शब्दों का प्रयोग नहीं किया, बल्कि उनका तात्त्विक अर्थ मुझ तक सीधा पहुँचा दिया।

"लेकिन आख़िर में तुम वापस चले जाओगे।"

इस बात पर मेरे अन्दर एक ही सवाल उठा :

"वापस कहाँ?"

इसका जवाब मुझे तब नहीं मिला, क्योंकि अभी तो लौटने में देर थी न... !

(क्रमशः)

Eben Alexander

अनु. वन्दना

सुदूर देश का वह गोपबालक मेरे आँगन के कदम्ब की छाया में सारा दिन खेलता रहा। गान तो उसने क्या गाया, यह तो वही जाने, लेकिन उसकी बाँसुरी के सुर मेरे हृदय पर बजते रहे। मैंने उससे पूछा, "तुम्हारे लिए माखन-मिसरी, दूध-मिठाई क्या लाकर दूँ?" उसने विहँस कर कहा, "और कुछ नहीं, अपने गले की माला दे दो मुझे।" मैं चुप खड़ा रह गया, मन दौड़ने लगा—"अरे, मेरे गले की लाख रुपये की मोतियों की माला! पीतवस्त्रधारी यह नन्हा-सा बालक मुझे इसका क्या दाम देगा? क्या होगा इसके पास इसका मूल्य चुकाने के लिए? आस-पास से बेख़बर मन उधेड़-बुन में पड़ा रहा, बंसी की ध्वनि कब नीरव हो चली, मुझे कोई आभास नहीं, क्योंकि मन तो तर्क के शोर में डूब चुका था। जब होश आया तो चारों तरफ़ गहरा सन्नाटा पाया... कहाँ गया वह बाल-गोपाल? कहाँ गयी वेणु की वह मनमोहक तान?? कोई नहीं था वहाँ, पल-भर पहले का स्वर्ग तिरोहित हो गया, क्योंकि वह बालक अन्तर्हित हो गया था — मेरे आँगन के कदम्ब-तले छोड़ गया था अपनी बाँसुरी... मेरे गले में पड़ी लाख रुपये की मोतियों की माला का मूल्य कौड़ी-भर भी न रह गया...!

साभार :
फूलश्री देवड़ा सेवा कोश
रजनीगन्धा १३ ई
२५, बालीगंज पार्क, कोलकाता- ७०००१९

अग्निशिखा
श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका
वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.
संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी
मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस
प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी
प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१
मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत
सम्पादिका : वन्दना
Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70
दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८
Email: info@aurosociety.org
Website: www. aurosociety.org

Date of Publication: 1st December 2021
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्कः एक वर्ष–२००रु.; तीन वर्ष–५८०रु.; पाँच वर्ष–९६०रु.

संस्थापकः श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रकः स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशकः प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थलः सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थलः श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिकाः वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org